

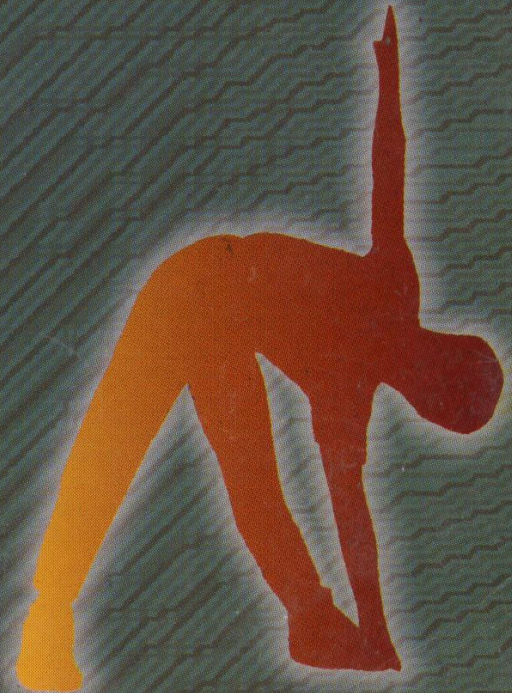


जीवन

विज्ञान

शिक्षा का नया आयाम

आचार्य महाप्रज्ञ



जीवन विज्ञान

(शिक्षा का नया आयाम)

आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : आगम मनीषी मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती

लाडनू- ३४१३०६ (राज.)

© प्रकाशकाधीन

सौजन्य :

संस्करण :

पहला : १९८३

चौथा : १९९२

सातवां : २००२

दूसरा : १९८४

पांचवां : २०००

आठवां : २००५

तीसरा : १९८९

छठा : २००२

नवां संस्करण : २००६

मूल्य : ३०/- (तीस रुपये मात्र)

कंपोज एवं टाईपसेटिंग : सर्वोत्तम प्रिंट एण्ड आर्ट

मुद्रक : कला भारती, नवीन शहादरा, नई दिल्ली

JEEVAN VIGYAN

Acharya Mahaprajna

Rs. 30.00

कथन

जीवन-विज्ञान किसी धर्म या संप्रदाय से संबंधित नहीं है। यह मात्र विद्या की शाखा है। मैं चाहता हूं कि इसका विकास शिक्षा-शाखा के रूप में होना चाहिए। बौद्धिक विकास के साथ-साथ अध्यात्म, सहिष्णुता, उदारता, प्रेम और एकता के भावों का संतुलित विकास अपेक्षित है।

विद्यार्थी अनुशासित जीवन जी सकते हैं। दिशा-बोध और दिशा-परिवर्तन की आवश्यकता है। जीवन-विज्ञान का यह उपक्रम दिशा-बोध देने में सक्षम है। दिशा-बोध का सहज फलित होता है दिशा-परिवर्तन, यदि अभ्यास-क्रम अपरिहार्य बन जाए तो।

जीवन-विज्ञान शिक्षा का नया आयाम बने, इसी विश्वास के साथ।

ह्रआचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

१. जीवन विज्ञान : क्या ? क्यों ?	१
२. जीवन विज्ञान : आधार और प्रक्रिया	१२
३. शिक्षा की समस्या (१)	२१
४. शिक्षा की समस्या (२)	३३
५. जीवन विज्ञान की शिक्षा क्यों ? (१)	४३
६. जीवन विज्ञान की शिक्षा क्यों ? (२)	५४
७. स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण	६३
८. मानसिक समस्या और शिक्षा	७४
९. जीवन विज्ञान और अंतर्दृष्टि के प्रयोग	८४
१०. जीवन विज्ञान और नई पीढ़ी का निर्माण	९३
११. जीवन विज्ञान और सामाजिक विज्ञान	१०५
१२. शिक्षा का नया आयाम : जीवन विज्ञान	११३

जीवन विज्ञान : क्या? क्यों?

मनुष्य आदिकाल से अब तक क्रमिक विकास करता आ रहा है। उसमें विकास की तीन वृत्तियां उपलब्ध हैं—जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा।

मनुष्य में जिज्ञासा है। वह प्रतिदिन नए-नए तथ्य जानना चाहता है।

उसमें बुभूषा है। वह कुछ होना चाहता है। वह अपने आपको बदलना चाहता है। वह जैसा है वैसा ही रहना नहीं चाहता।

उसमें चिकीर्षा है। वह कुछ करना चाहता है।

मनुष्य कुछ बनना चाहता है, कुछ होना चाहता है और कुछ करना चाहता है। इन तीन वृत्तियों ने विकास-क्रम को आगे बढ़ाया है। आज विकास क्रम बहुत ऊंचे शिखर तक पहुंचा हुआ है और विकास के लिए उसने माध्यम बनाया है शिक्षा को।

शिक्षा प्रत्येक विकास की अधिष्ठात्री रही है। शिक्षा का मूल अर्थ है अभ्यास। आज यह अर्थ विस्मृत हो गया है। आज शिक्षा का अर्थ है अध्ययन। अभ्यास दो प्रकार का होता है—ग्रहणात्मक अभ्यास और आसेवनात्मक अभ्यास। पहले ग्रहण करो, जानो और फिर उसका आसेवन करो, प्रयोग करो। शिक्षा इन दो चरणों में चलती थी। शिक्षा का पहला चरण था 'ग्रहण' और दूसरा चरण था 'आसेवन'। जानना भी शिक्षा है, पर जानना मात्र ही शिक्षा नहीं है। आसेवन भी शिक्षा है और यह शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। धार्मिक शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है और बौद्धिक शिक्षा प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है।

आज धर्मजगत् के समक्ष एक प्रश्न बार-बार उभर रहा है। वह प्रश्न है, आज धर्म का असर क्यों नहीं हो रहा है?

एक व्यक्ति एक साधक के पास आकर बोला—'क्या कारण है कि आज धर्म का असर नहीं होता?'

साधक ने पूछा—'राजगृह यहां से कितनी दूर है?'

उसने कहा—'दो सौ माईल।'

‘तुम जानते हो?’

‘हां मैं जानता हूँ।’

‘क्या तुम अभी राजगृह पहुंच गए?’

‘पहुंचा कैसे? अभी तो यहां हूँ। चलूंगा तब पहुंचूंगा।’

साधक बोलाह ‘तुम्हारे प्रश्न का उत्तर आ गया। तुम राजगृह को जानते हो, पर जब तक तुम उस ओर प्रस्थान नहीं करोगे तब तक राजगृह नहीं पहुंच सकोगे। यही बात धर्म के लिए है। लोग धर्म को जानते हैं, पर जब तक उसकी नियमों पर नहीं चलेंगे, उस ओर प्रस्थान नहीं करेंगे, तब तक धर्म का असर कैसे होगा?’

ऐसी ही दूसरी मार्मिक घटना है। शिष्य गुरु के पास आकर बोलाह ‘गुरुदेव! अनादि काल से यह प्रश्न पूछा जाता रहा है कि धर्म का असर क्यों नहीं हो रहा है? आज भी मेरे मन में यही प्रश्न चक्कर लगा रहा है।’

गुरु समयज्ञ थे। उन्होंने कहाह ‘वत्स! जाओ, एक घड़ा शराब ले आओ।’

शिष्य शराब का नाम सुनते ही अवाक् रह गया। मन ही मन सोचा, यह कैसी मांग? गुरु और शराब! वह देखता रह गया।

गुरु ने कहाह ‘देखते क्या हो? जाओ, एक घड़ा शराब ले आओ।’

वह गया। शराब से छलाछल भरा हुआ घड़ा ले आया।

गुरु बोलेह ‘यह सारी शराब पीओ।’

शिष्य और अधिक अचंभे में पड़ गया।

गुरु ने कहाह ‘शिष्य! एक बात का ध्यान रखना। शराब पीना, पर उसे तत्काल कुल्ला कर थूक देना। गले से नीचे मत उतारना।’

शिष्य ने शराब पीना प्रारंभ किया। शराब मुंह में लेता और तत्काल थूक देता। देखते-देखते घड़ा खाली हो गया। उसने आकर कहाह ‘गुरुदेव! पूरा घड़ा खाली हो गया है।’

‘तुझे नशा आया या नहीं?’

‘गुरुदेव! नशा तो बिलकुल नहीं आया।’

‘अरे! शराब का एक घड़ा खाली कर गए और नशा नहीं चढ़ा?’

‘गुरुदेव! नशा तो तब आता जब मैं शराब को गले से नीचे उतारता। एक बूंद भी गले से नीचे नहीं उतरी, तो फिर नशा कैसे चढ़ता?’

गुरु बोलेह ‘तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तुमने ही दे डाला।’

‘कैसे गुरुदेव ?’

‘देखो, धर्म करने वाले लोग धर्म को गले से नीचे उतारते ही नहीं हैं, ऊपर ही ऊपर रखकर थूक देते हैं तो भला उसका प्रभाव कैसे हो सकता है? उसका नश कैसे चढ़ सकता है?’

आज शिक्षा का प्रभाव नहीं हो रहा है क्योंकि उसकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो रही है। शिक्षा की पूरी प्रक्रिया हैह्यग्रहण करो फिर उसका आसेवन करो, जीवन में उतारो। जानो और प्रयोग करो। आज यह आसेवन की बात छूट-सी गई।

पतञ्जलि से पूछा गयाह्यचित्त का निरोध कैसे होता है ?

उन्होंने कहाह्यचित्त-निरोध के दो उपाय हैंह्यअभ्यास और वैराग्य।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछाह्यमन का निरोध कैसे हो सकता है ?

कृष्ण ने कहाह्यपार्थ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई, ज्ञानात्मक शिक्षा बच गई। शिक्षा का एक चरण टूट गया। वह लंगड़ी हो गई। इसलिए शिक्षा का जो परिणाम आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है। मनुष्य की तीनों वृत्तियोंह्यजिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा का माध्यम है शिक्षा। जिज्ञासा का समाधान शिक्षा के द्वारा होता है। बुभूषा और चिकीर्षा का समाधान भी शिक्षा के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, करने का कौशल शिक्षा से प्राप्त होता है। होने या बदलने का पराक्रम भी शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है और जानने का माध्यम भी शिक्षा से ही प्राप्त होता है। जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा के क्षेत्र को भी जानना आवश्यक है। जानने का क्षेत्र क्या है? होने का क्षेत्र क्या है? और करने का क्षेत्र क्या है? हम क्षेत्र पर विचार करें। किसी भी वस्तु या तथ्य पर विचार करते समय देश (क्षेत्र) और काल पर भी विचार करना होता है। देश और काल को छोड़कर हम किसी भी वस्तु की मीमांसा नहीं कर सकते।

शिक्षा के चार आयाम हैंह्यशारीरिक विकास, मानसिक, विकास, बौद्धिक विकास और भावात्मक विकास। इन चारों में व्यक्तित्व-निर्माण से संबंधित सभी विकास समाविष्ट हैं। इस संदर्भ में हम वर्तमान शिक्षाप्रणाली पर विमर्श करें। हम यह सोचें कि वर्तमान में प्रचलित शिक्षा क्रम कैसा है? शिक्षा की प्रणाली कैसी है? आज की शिक्षा प्रणाली को दोषपूर्ण कहना संगत नहीं लगता। जो चल रही है वह अपने आप में कृतकृत्य है। हम किसी भी वस्तु को दोष या गुण के माध्यम से समीक्षित करना चाहें तो हमें परिणाम

और निष्पत्ति पर विचार करना ही होगा। आज शिक्षा की जो निष्पत्तियां प्रत्यक्ष हो रही हैं, उन्हें देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि आज की शिक्षा कोई फल नहीं दे रही है। जिस विषय की आज शिक्षा दी जा रही है, उसकी निष्पत्तियां आ रही हैं। आज अच्छे डॉक्टर, अच्छे, वकील, अच्छे इंजीनियर, अच्छे शिक्षक अपने-अपने विषय में निष्णात होकर समाज में आ रहे हैं। इस स्थिति में हम कैसे मानें या कहें कि शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण है? जब निष्पत्तियां ठीक हैं तो हम कैसे स्वीकार करें कि शिक्षा सही नहीं है? फिर प्रश्न होता है कि शिक्षा की समस्या क्या है?

हमारी शिक्षा-प्रणाली संतुलित नहीं है। संतुलित शिक्षा प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम संतुलित रूप से विकसित होते हैं। शरीर का विकास भी अपेक्षित है, मन का विकास भी अपेक्षित है, बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित है। आज की शिक्षा के दो आयाम हैं—शारीरिक विकास का आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम। शेष दो आयाम अपेक्षित पड़े हैं। आज शारीरिक विकास बहुत हुआ है और बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ़ रहा है। किंतु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास हदसे दोनों अपेक्षित हैं। शिक्षा प्रणाली का यह असंतुलन है। इस असंतुलित शिक्षा प्रणाली की निष्पत्तियां क्या हैं, इस पर भी हम विचार करें।

आज शिक्षा-संस्थानों के समक्ष भी अनेक समस्याएं हैं। प्राथमिक स्कूलों की समस्याएं कम हैं, किन्तु कॉलेज और विश्वविद्यालय की समस्याएं अधिक हैं। जैसे जैसे बौद्धिक विकास बढ़ता चला जाता है, वैसे वैसे समस्याएं उग्र होती चली जाती हैं। इस स्थिति में हम विद्यार्थियों से अनुशासन की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं। विद्यार्थी में अनुशासन आए, यह शिक्षा-संस्थान की अपेक्षा है, परिवार वालों की भी अपेक्षा है। विद्यार्थी में चरित्र का विकास हो, यह सबकी अपेक्षा है। शिक्षा-संस्थान, परिवार, समाज और राष्ट्र सब की अपेक्षा है। समाज को इस चरित्र-विकास की अधिक अपेक्षा है। हम शिक्षा से चरित्र का विकास, अनुशासन का विकास, संयम और सहिष्णुता का विकास चाहते हैं। किंतु ये निष्पत्तियां नहीं आ रही हैं। जो निष्पत्तियां आ रही हैं, वे हैं तोड़फोड़ की, हिंसक उपद्रवों की और उद्दंडता की। इसका कारण बहुत स्पष्ट है कि विद्यार्थी के मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए, शिक्षा के पास कुछ भी देने को नहीं है। आज स्कूलों में शारीरिक व्यायाम कराने वाले अध्यापक मिलेंगे, आसन कराने वाले मिलेंगे और बौद्धिक विकास की प्रचुर सामग्री देने वाले अध्यापक मिलेंगे, किंतु

मानसिक विकास और भावनात्मक विकास कराने वाला एक भी नहीं मिलेगा। न तो आज की सरकार इस विकास की चिंता करती है और न आज की शिक्षा प्रणाली में ऐसी विद्या ही है, जिससे यह अपेक्षा पूरी हो सके। हम बीज बोते नहीं, पर परिणाम की आकांक्षा करते हैं और सारा दोषारोपण शिक्षा प्रणाली पर कर देते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है। यह एक ऐसा ही प्रयत्न है जो विपर्यास का स्पष्ट निदर्शन है।

विरोध है घर के स्वामी से, पर वह है शक्तिशाली। उसके साथ संघर्ष नहीं किया जा सकता। पर वह विरोध प्रदर्शन का दूसरा तरीका अपना लेता है। उस मालिक की गाय-भैंस पर लाठियां चलाने लग जाता है। उनको पीटना प्रारंभ कर देता है। अरे! उन पशुओं ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा ?

आज यही हो रहा है। आदमी चारित्रिक विकास देखना चाहता है, अनुशासन को प्रतिष्ठित देखना चाहता है, पर जब उनकी परिणति नहीं देखता, तब सारा दोष शिक्षा-प्रणाली पर लाद कर सुख की सांस लेता है। शिक्षा-प्रणाली में जब चारित्रिक विकास के बीज ही नहीं हैं, जब अनुशासन लाने वाले तत्त्व ही नहीं हैं तब उनकी परिणति साक्षात् कैसे होगी ? यह प्रयत्न बीज के बिना फल पाने जैसा है। यदि शिक्षा-प्रणाली में चरित्र और अनुशासन के बीज हों और फिर यदि निष्पत्ति न आए तो चिंता का विषय हो सकता है। बीज बोने पर भी फसल न हो तो किसान चिंतित हो जाता है। पर बीज बोया ही नहीं और फसल की आशा लिए बैठना वज्र मूर्खता है।

जीवन विज्ञान की परिकल्पना यही है कि शिक्षा-प्रणाली संतुलित हो। जीवन-विज्ञान का एक अर्थ है संतुलित शिक्षा-प्रणाली। संतुलित का अभिप्राय है कि जैसा शारीरिक विकास और बौद्धिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है, वैसा ही प्रयत्न मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए हो। ऐसा होने पर ही शिक्षा-प्रणाली संतुलित हो सकेगी।

आज संतुलन का प्रश्न बहुत बहुत्व का है। उस संतुलन को प्रस्थापित करने वाले तथ्य कौन-कौन से हैं, इस पर हम कुछ विमर्श करें।

पहला तथ्य है प्राणधारा का संतुलन।

मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। प्राण के दो प्रवाह हैं हृद्दंडा और पिंगला। ये प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज की शरीरशास्त्रीय भाषा में इनके नाम हैं **सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम और सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम**। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय हो जाता है तो उद्दंडता और उच्छृंखलता पनपती है,

हिंसक और तोड़फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दायीं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीनभावना का विकास होता है, भय की वृत्ति होती है, दुर्बलता आती है। दोनों में संतुलन अपेक्षित है। जब यह संतुलन सधता है तब संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। तब न हीनभावना पनपती है, न उद्दण्डता और अनुशासनहीनता आती है और न भय की वृत्ति बनती है।

आज के मेडिकल साइन्स ने मस्तिष्कीय खोजों द्वारा यह प्रस्थापित किया है कि आदमी के मस्तिष्क का बायां हिस्सा स्कूलिय अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। तर्क, गणित और भाषा का जितना कार्य है, यह सारा बाएं हिस्से का कार्य है। आज मस्तिष्क पर और उसकी कार्य-प्रणाली पर प्रतिवर्ष अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अनेक रहस्योद्घाटन हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क की रचना और उसकी कार्य-प्रणाली की पूरी जानकारी हो गई है। बहुत अल्प जानकारी हुई है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। अध्यात्म, अन्तश्चेतना का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास यह सब दाएं मस्तिष्क का काम है। यह इनके विकास और हास के लिए उत्तरदायी है।

आज असंतुलन हो गया। बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया और दायां हिस्सा सोया का सोया रह गया। ऐसा हो गया कि आदमी का एक हाथ आकाश को छूने लग गया और एक हाथ बौना ही रह गया। यह असंतुलन समस्या पैदा कर रहा है।

जीवन विज्ञान का एक कार्य यह भी है कि जैविक दृष्टिकोण से जो असंतुलन हो रहा है, उसे रोक कर संतुलन स्थापित करना।

जीवन विज्ञान का दूसरा अर्थ है जैविक संतुलन की स्थापना।

जीवन विज्ञान का तीसरा अर्थ है क्षमता की आस्था का जागरण। आदमी स्वयं की क्षमताओं से अनभिज्ञ है। दर्शन की दृष्टि से कहा गया है कि मनुष्य में अनंत ज्ञान होता है, अनन्त बल होता है, अनन्त आनन्द होता है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है, पर आज का विज्ञान इसी भाषा में बोलने लग गया है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई। डॉ. लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है। उसको विकसित किया जा सकता

है। उसके प्रयोग किए। जो बच्चा पांच-दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसको इस प्रणाली से हजारों शब्द याद करा डाले।

विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनंत क्षमताएं हैं। परन्तु आदमी उन क्षमताओं का पांच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति बन जाता है। जो उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं सोयी रह जाती हैं।

जीवन विज्ञान के द्वारा विद्यार्थियों में इस आस्था को जागृत करना है कि हमारे भीतर अनन्त क्षमताएं हैं और हम उन्हें सक्रिय कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

आस्था का निर्माण करना बहुत बड़ी निष्पत्ति है। महान् इतिहासकार टॉयनबी ने लिखा है कि आस्था और रोटी ये दो प्रश्न हैं। आस्थाहीन रोटी और रोटीविहीन आस्थाहृदयों हमारे लिए खतरे बन सकते हैं।

आज सारा ध्यान रोटी पर केन्द्रित हो गया है। आस्था की बात गौण हो गई है। लोग सोचते हैं, आस्था रहे या न रहे, रोटी होनी चाहिए। रोटी आवश्यक है, पर इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि रोटीविहीन आस्था से काम नहीं चलता तो आस्थाहीन रोटी भी आदमी को कभी-कभी खाने लग जाती है, भयंकर बन जाती है। दोनों का संतुलन हो। रोटी भी हो और आस्था भी।

आस्था को छोड़कर आदमी जी नहीं सकता। जब आस्था लड़खड़ा जाती है तब आदमी के घुटने टिक जाते हैं। हम प्रत्येक विद्यार्थी में उसकी क्षमता के अनुसार आस्था उत्पन्न करें। उसमें ऐसी आस्था पैदा हो जाए कि कोई भी कार्य असंभव नहीं है। सभी कार्य संभव हैं। यदि उचित प्रयत्न, दृढ़ अध्यवसाय और उचित साधन-सामग्री का संयोजन-संकलन हो तो प्रत्येक कार्य को संभव बनाया जा सकता है।

जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ है कि परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामों में होना चाहिए। दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार की परिष्कार और भावना का परिष्कार। मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभावनाहृदये तीनों मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ें, किसी भी समाज और व्यक्ति के उत्थान और पतन की कहानी पढ़ें, उसकी गहराई में तीन बातें मिलेंगी। उत्थान के तीन कारण हैं कि सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव। पतन के तीन कारण हैं कि

मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभाव। ये उत्थान-पतन के मूलभूत कारण हैं। अवान्तर कारण सैकड़ों-हजारों हो सकते हैं, पर वे मूल के उपजीवी हैं।

हमारा दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव मिथ्या क्यों होते हैं? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए हम सिद्धांतों की सूक्ष्म चर्चा में न जाएं, स्थूल बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, जो निर्विवाद है, जिसकी वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है।

पहले हम यह सोचें कि हमारे दृष्टिकोण पर, व्यवहार और भाव पर नियन्त्रण किसका है? कौन इनको संचालित करता है? वैज्ञानिक खोजों ने यह प्रस्थापित किया है कि इन सब पर हाइपोथेलेमस (मस्तिष्क का एक भाग) तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का नियंत्रण है। पीनियल और पिच्यूटरीह्वये ग्रन्थियां इनको संचालित करती हैं। इन ग्रन्थियों से प्रभावित एड्रीनल भी इन पर नियंत्रण रखती है। हमें परिष्कार करना है भावना का। यह हमारा लक्ष्य है, किन्तु जब तक हाइपोथेलेमस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे, तब तक ग्रन्थियों से स्रवित होने वाले स्राव का परिष्कार नहीं होगा और जब तक यह ग्रंथि-स्राव परिष्कृत नहीं होगा तब तक दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव का परिष्कार नहीं होगा।

यह सही है कि परिस्थितियां हमारे दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनका स्थान पहला नहीं है। द्वितीय है। वे मुख्य नहीं गौण हैं, मुख्य हैं अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव। इन्हें उपादान कारण कहा जा सकता है और परिस्थिति को निमित्त कारण माना जा सकता है। निमित्त का उतना मूल्य नहीं होता, जितना उपादान का होता है। घड़े का उपादान है मिट्टी और निमित्त है कुम्भकार, चाक आदि। कुम्भकार और चाक का भी अपना महत्त्व है, पर जब घड़े की निर्मिति हो रही होती है तब ज्यादा मूल्य होता है मिट्टी का। उपादान का मूल्य अधिक होता है। उसके बिना कुछ बनता नहीं।

हमें उपादान का भी परिष्कार करना है और निमित्त का भी परिष्कार करना है। दोनों का परिष्कार करना है। मिट्टी के बिना भी घड़ा निर्मित नहीं होता और कुम्भकार तथा चाक के बिना भी वह नहीं बनता। घड़े की निर्मिति में दोनों जरूरी हैं, पर दोनों में पहला स्थान है मिट्टी का।

इसी प्रकार परिष्कार के लिए हमें पहला स्थान देना होगा आंतरिक उपादानों को और दूसरा स्थान देना होगा परिस्थितियों को। परिस्थितिजनित निमित्तों को।

परिष्कार घटित करनाहयह जीवन विज्ञान का एक कार्य है। उसकी प्रक्रिया पर भी विचार करना होगा। परन्तु पहले हम यह अनुभव करें कि परिष्कार अपेक्षित है। हमारे इस संसार में सर्वत्र तारतम्य है। किसी भी एक श्रेणी को देखें, वहां तरतमता दृष्टिगोचर होगी। तारतम्य तर्कशास्त्र का प्रबल सिद्धांत है। इसके आधार पर 'अन्तिम' की बात की जाती है। जहां तरतमता समाप्त हो जाती है, वहां 'अन्तिम' की बात भी समाप्त हो जाती है। भारतीय दर्शन में जिस किसी तत्त्व पर विचार किया गया है, वह तरतमता के आधार पर ही किया गया है। चिंतन का तारतम्य है, बुद्धि और ज्ञान का तारतम्य है, तर्क-वितर्क का तारतम्य है।

एक कहानी से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। एक गुरु के तीन शिष्य थे। गुरु उनकी परीक्षा करना चाहता था। एक दिन गुरु ने तीनों को बुलाकर कहाहत्तुम सब इस रास्ते से जाते हो। आज इस रास्ते से मत जाना। सामने वाले संकरे रास्ते से जाना। सबने सुना। वे बोलेहगुरुदेव! यह रास्ता थोड़ी दूर तो जाता है, आगे कंटिली बाड़ आ जाती है। हम आगे कैसे जा सकेंगे ?

गुरु बोलेहआदेश आदेश है। कैसे भी जाओ, इसी रास्ते से जाना है। कोई विकल्प नहीं है, कोई तर्क नहीं है। यदि जाना है तो इसी रास्ते से जाना होगा। खिड़की से गिरना हो तो गिर जाना, कुएं में गिरना हो तो गिर जाना और कांटों पर चलना हो तो चलते जाना। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

साधना के क्षेत्र में आचार्य का आदेश इतना कठोर और प्रबल होता था कि कोई उसे टाल नहीं सकता था। कोई तर्क करता तो उसे साधना से निकाल दिया जाता।

तीनों शिष्य चले। पहले ने सोचा, गुरु का आदेश है। जाऊंगा तो कांटे चुभेंगे, पैर लहलुहान हो जाएंगे, फिर भी मुझे गुरु के आदेश का पालन करना ही है। शरीर नश्वर है। आदेश का पालन मेरा कर्तव्य है। वह चला। कांटों से पैर बिंध गया। रक्त बहने लगा। अपार पीड़ा। पर वहीं पार कर गया।

दूसरे ने सोचा, ये कैसे गुरु ? क्या शिष्यों को कष्ट देना ही गुरु का काम है ? क्यों सताते हैं शिष्यों को ? ऐसे गुरु से क्या प्रयोजन ? चलो, गुरु बदल देंगे। दुनिया में गुरुओं की कमी नहीं है। मैं इस रास्ते से तो जाऊंगा ही नहीं। वह वहीं बैठ गया।

तीसरा शिष्य आया। उसने सोचा, गुरु गुरु हैं। उनका आदेश शिरोधार्य है। मुझे उसी रास्ते से चलना है। गुरु के आदेश में कोई न कोई

रहस्य होना चाहिए। वह चला। घासफूस इकट्ठा किया। एक झाड़ू-सा बनाया। रास्ते को बुहार-बुहार कर आगे बढ़ता गया। रास्ता पार हो गया।

तीन प्रकार के चिंतन सामने आए। घटना एक, पर चिन्तन तीन। पहले चिंतन में आज्ञा की स्वीकृति है, साथ-साथ अज्ञान की स्वीकृति भी है। दूसरे चिंतन में आज्ञा की अस्वीकृति है और उद्दंडता का मनोभाव है। तीसरे चिंतन में आज्ञा की स्वीकृति भी है और साथ में परिष्कार का भाव भी है। यह चिंतन की तरतमता का निदर्शन है।

प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की तरतमताएं देखी जाती हैं। इन तरतमताओं के आधार पर हमें उस बिंदु को पकड़ना है जहां परिष्कार घटित हो सकता है।

अध्यापक के हाथ में अपरिष्कृत बच्चे आते हैं। उनमें तरतमता होती है, पर उन सबका परिष्कार किया जा सकता है। परिष्कार की प्रक्रिया के बिना शिक्षा-प्रणाली को संतुलित नहीं कहा जा सकता। हमारा यह आग्रह नहीं है कि यह परिष्कार प्रेक्षा-ध्यान की प्रणाली से ही आ सकता है। अनेक प्रणालियां हो सकती हैं, पर परिष्कार का विकल्प हमारे पास होना चाहिए। शिक्षा के साथ परिष्कार के सूत्र अवश्य जुड़े होने चाहिए, ताकि विद्यार्थी के अपरिष्कृत दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव परिष्कृत बनते जाएं। विद्यार्थी छोटा बच्चा है। जब वह दूसरे को गाली देते देखता है तो उसके सामने गाली देने का ही विकल्प होता है। वह जानता ही नहीं कि गाली के सामने गाली नहीं देनी चाहिए। उसे कोई पीटेगा तो वापस पीटना ही उसका काम होगा। कोई दूसरा उसकी चीज उठाएगा तो दूसरे की चीज उठाना ही उसका काम होगा, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया करना उसने सीखा है। अपरिष्कृत मस्तिष्क में एक ही सूत्र उत्पन्न होता है—क्रिया की प्रतिक्रिया करना, जैसे दूसरा करे, वैसे करना। जब परिष्कार आता है तब गाली के प्रति गाली न देना, जैसे के प्रति वैसा नहीं करना घटित होता है।

अब्राहम लिंकन की घटना है। वे जब रास्ते से गुजरते और कोई भी व्यक्ति नमस्कार करता तब वे भी टोप उतार कर उसको नमस्कार का उत्तर देते। एक दिन मित्रों ने कहा—‘राष्ट्रपति महोदय! आप अमेरिका के राष्ट्रपति हैं। आपको मर्यादा की सुरक्षा करनी चाहिए। आप हर किसी व्यक्ति को टोप उतार कर नमस्कार कर देते हैं, यह तो उचित नहीं है।’

राष्ट्रपति लिंकन ने कहा—‘जानते हो, अमेरिका का राष्ट्रपति शिष्टता के मामले में किसी से पीछे रहना नहीं चाहता। एक व्यक्ति शिष्ट बन कर

मुझे नमस्कार करे और मैं नमस्कार न कर उससे पीछे रह जाऊं, तब मैं राष्ट्रपति कहां रहा ? राष्ट्रपति तो वह बन गया और मैं उससे नीचे रह गया।’

यह जो परिष्कार का विचार पैदा होता है, वह परिष्कार की प्रक्रिया का ही प्रतिफल है।

विद्यार्थी के मस्तिष्क का परिष्कार करना, यह शिक्षा-प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए।

जीवन विज्ञान के द्वारा विद्यार्थी के मस्तिष्क का परिष्कार किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान : आधार और प्रक्रिया

व्यक्ति का संचालन तंत्र के द्वारा होता है। प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिए एक सशक्त तंत्र अपेक्षित होता है। प्रत्येक मनुष्य के साथ कार्य-संचालन के लिए एक तंत्र है और उसमें चार तत्त्व काम कर रहे हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। ये चारों साधक भी बनते हैं और बाधक भी, विकास के हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाता है तो साधक बन सकते हैं, अशिक्षित रहते हैं तो बाधक भी बन जाते हैं। प्रश्न है अभ्यास देने का, शिक्षित करने का।

शरीर का महत्वपूर्ण भाग है—नाड़ी-संस्थान, मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु। हमारे शरीर में दो ध्रुव हैं। ऊपर का ध्रुव है—मस्तिष्क और नीचे का ध्रुव है—हृदय की हड्डी का निचला सिरा। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है और पृष्ठरज्जु का निचला हिस्सा शक्ति का विकिरण करता है। एक शक्ति के संग्रह का अमोघ साधन है, दूसरा चेतना के संग्रह का अमोघ साधन है।

हमारे जीवन में चेतना और शक्ति—दो महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। दोनों को दो ध्रुव संभाले हुए हैं। एक ध्रुव है—मस्तिष्क या ज्ञान केन्द्र और दूसरा ध्रुव है—शक्तिकेन्द्र। इनका संतुलित विकास होता है तो हमारी प्रवृत्ति का संचालन बहुत सहजता और सरलता से होता है।

शरीर तंत्र के संचालन का दूसरा तत्त्व है—श्वास। श्वास का मूल्यांकन बहुत कम हो पाया है। वस्तुतः वाणी, मन और नाड़ी-संस्थान इन सबमें प्राण का संचार करने का माध्यम बनता है—श्वास। श्वास एक महत्वपूर्ण तत्त्व है जो बाह्य जगत् में भी रहता है और अन्तर्जगत् में भी रहता है। बाहर आता है और फिर भीतर जाता है। बाह्य और अन्तरहृदयों के बीच सेतु बना हुआ है—हमारा श्वास। श्वास की प्रक्रिया बहुत छोटी लगती है, किन्तु बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। श्वास के प्रयोग हमारे प्राणवायु का सम्पूरण करते हैं। ऑक्सीजन आता है श्वास के माध्यम से। कार्बन-डाईऑक्साइड निकलता है श्वास के माध्यम से। श्वास भीतर जाता है तो प्राण तत्त्व लेकर जाता है और बाहर

आता है तो दूषित तत्त्व को लेकर आता है। यह सारा कार्य श्वास के द्वारा हो रहा है। ऑक्सीजन के बिना कोई भी कोशिका काम नहीं कर सकती। प्रत्येक कोशिका को प्राणवायु की जरूरत होती है। यह सारा ईंधन उपहृत होता है श्वास के द्वारा। श्वास सारी सप्लाई कर रहा है। श्वास हमारी चेतना के जागरण में भी बड़ा सहयोगी बनता है। चेतना के सूक्ष्म स्पंदनों को सक्रिय बनाने में श्वास का बड़ा योग होता है।

तीसरा तत्त्व हैहवाणी। वाणी हमारी प्रवृत्ति का और सामाजिकता का मुख्य माध्यम है। यदि वाणी नहीं होती तो समाज नहीं होता। पशुओं का समाज नहीं है। वह इसलिए नहीं है कि उनके पास भाषा नहीं है। वाणी के अभाव में समाज नहीं बनता। संस्कृत के कोशों में दो शब्द व्यवहृत हैंहसमज और समाज। 'पशूनां समजः मनुष्याणां समाजः'हपशुओं का समूह 'समज' और मनुष्यों का समूह 'समाज' होता है। भेद-रेखा यही कि पशुओं के पास वाणी नहीं है। वाणी के बिना व्यवस्थित चिंतन नहीं हो सकता और चिंतन के बिना कोई समाज नहीं बन सकता। मनुष्य को वाणी भी उपलब्ध है, चिंतन भी उपलब्ध है, इसलिए वह समाज बना पाया है। सामाजिकता का मुख्य आधार बनता हैहवाणी।

चौथा तत्त्व हैहमन। मन स्मृति, कल्पना और चिंतन का माध्यम बनता है। जीवन की यात्रा इन तीनों के आधार पर चलती है। स्मृति के अभाव में यात्रा दुर्भर हो जाती है। कल्पना के बिना विकास की कोई बात नहीं सोची जा सकती। चिंतन के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इन तीनों का सशक्त माध्यम है हमारा मन।

ये चार तत्त्वहशरीर, श्वास, वाणी और मन हमारी प्रवृत्ति के, हमारे तंत्र के मजबूत पाये हैं। इन चारों के बिना हमारी प्रवृत्तियों का सम्यक् संचालन नहीं हो सकता। पर ये बाधक भी बन जाते हैं। मन बहुत बाधक बनता है। एक काम करना है, अनावश्यक स्मृतियां बीच में आने लग जाती हैं। जो काम पांच मिनट में होना चाहिए, वह पचास मिनट में भी नहीं हो सकता और कुछ लोग ऐसे हैं कि काम पूरा कर ही नहीं पाते। स्मृतियों का तार इस प्रकार उघड़ता है कि एक के बाद एक स्मृति का चक्र आता है। वह अनंत बन जाता है और मूल बात वहीं की वहीं रह जाती है। स्मृति हमारे कार्य में सहयोग देती है, बाधा भी देती है। कल्पना बहुत सहयोगी है तो कल्पना बहुत बाधा भी देती है। यदि कल्पना पर हमारा नियंत्रण नहीं है तो कल्पना बहुत बाधक बन जाती है। कुछ लोग व्यर्थ की कल्पनाएं करते रहते हैं। वे काल्पनिक जीवन

जीते रहते हैं, यथार्थ के धरातल पर उनका पैर कभी टिकता ही नहीं। इससे जीवन में बाधा उपस्थित हो जाती है। चिंतन बहुत उपयोगी होता है तो चिंतन बहुत बाधा भी उपस्थित करता है। इतना चिंतन, इतना चिंतन कि क्रियान्विति का सारा रस ही चिंतन खा लेता है, क्रियान्विति का कभी मौका ही नहीं मिलता। चिंतन कभी टूटता ही नहीं, क्रियान्विति कैसे हो ?

वाणी की बाधा को सब लोग जानते हैं। थोड़ा-सा अप्रिय शब्द निकला, परम मित्र शत्रु बन जाता है। मन की सारी क्रिया वाणी पर निर्भर है। स्मृति, कल्पना, चिंतन सब भाषा पर आधारित है। भाषा के बिना न स्मृति, न कल्पना और न चिंतन। सब भाषा के आधार पर ही चलते हैं। वास्तव में स्वरयंत्र बहुत महत्वपूर्ण होता है। एक आदमी सो रहा है। सोते समय बोलता नहीं, किन्तु स्वरयंत्र उसका सक्रिय होता है, बन्द नहीं होता। कोई आदमी सपना लेता है तो उसका स्वरयंत्र सक्रिय हो जाता है। नींद में भी सक्रिय होता है। शब्दानुशासन, मन्त्रानुशासन और मनोनुशासनहइन तीनों में भाषा को द्विरूप माना है। एक है बहिर्जल्प और दूसरा है अन्तर्जल्प। एक वे, जो बाहर से बोलते हैं और एक वे, जो भीतर से बोलते हैं। बाहर से कुछ नहीं बोलते, किन्तु भीतर से स्वरयंत्र की सक्रियता बराबर बनी रहती है, बोलते चले जाते हैं। यह काम नींद और सपने में भी होता रहता है। अन्तर्जल्प हमारा बन्द नहीं होता और इसलिए बहुत सारे लोग अशब्द नींद नहीं ले पाते। उनकी नींद सशब्द होती है, स्वरयंत्र बराबर चलता रहता है।

भाषा जहां सहायक बनती है वहां भाषा बहुत बाधक भी बनती है। बहुत सारे मानसिक तनावों को पैदा करने में भाषा का, स्वरयंत्र का बड़ा योग है।

जहां श्वास बहुत सहायक है, वहां श्वास बहुत बाधक भी बनती है। एक आदमी को उत्तेजना बहुत आती है। बहुत क्रोध, बहुत अहंकार, बहुत वासना, बहुत ईर्ष्या और बहुत घृणा आती है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण है श्वास सधा हुआ नहीं है। सधा हुआ नहीं है तो वह श्वास इन वृत्तियों को पैदा करने में निमित्त बन जाता है। श्वास दो प्रकार का होता है लंबा श्वास और छोटा श्वास। जो सहज श्वास है वह वास्तव में लंबा श्वास होना चाहिए। मैं सहज श्वास और लंबे श्वास को पृथक् नहीं मानता। कुछ लोग कहते हैं कि श्वास तो सहज होता है, उसे लंबा किया जाता है, किन्तु वास्तव में दीर्घ श्वास ही सहज श्वास हो सकता है। एक मिनट में जो १५-१६ श्वास लिए जाते हैं, वह वास्तव में सहज श्वास नहीं है। श्वास की संख्या और कम होनी चाहिए। हमारी शारीरिक रचना के आधार पर यदि श्वास हो तो एक मिनट में ७-८ से

ज्यादा श्वास नहीं होने चाहिए। किन्तु पन्द्रह-सोलह श्वास आते हैं। क्योंकि हमारी शारीरिक संरचना के साथ-साथ हमारी मानसिक वृत्तियां भी काम करती हैं और उनसे प्रभावित होकर श्वास छोटा होता है या जब श्वास छोटा होता है तब आदमी को उत्तेजना आती है। क्रोध के क्षणों में श्वास छोटा बन जाएगा और जब छोटा श्वास आता है, तो क्रोध आने के प्रसंग ज्यादा बन जायेंगे। श्वास जहां सहायक है, वहां श्वास बाधक भी बनता है।

हमारी नाड़ी-संस्थान प्रवृत्ति के संचालन में सहायता कर रहा है और उसके द्वारा ज्ञान और क्रिया दोनों संपादित हो रहे हैं। उसी के आधार पर ज्ञानवाही नर्व और क्रियावाही नर्वहदोनों अपना-अपना ठीक काम कर रहे हैं, जीवन की यात्रा चल रही है, किन्तु जब नाड़ी-संस्थान सधा हुआ नहीं होता है तो प्राण के प्रवाह अवरुद्ध हो जाते हैं और वे हमारे शरीर के भीतर अनेक विकृतियां पैदा करने लग जाते हैं। बहुत सारी विकृत आदतों के लिए नाड़ी-संस्थान ही सहायक बनता है।

इस प्रकार तंत्र के चारों तत्त्व सहयोगी भी बनते हैं और बाधक भी बनते हैं। यदि शिक्षित हैं तो हमारा सहयोग करते हैं और अशिक्षित हैं तो हमारा अवरोध करते हैं।

शरीर की साधना, श्वास की साधना, वाणी की साधना और मन की साधनाहइन चारों की साधना करना, चारों को शिक्षित करना प्रेक्षाध्यान की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, उसका मौलिक आधार है। जब तक आधार की बात समझ में नहीं आती, ठीक उपचार नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि उपचार करने वाला स्वयं बीमार पड़ जाता है तो उपचार की कठिनाई पैदा हो जाती है।

एक बार दुर्घटना में एक आदमी अत्यंत घायल हो गया। भीड़ इकट्ठी हो गई। लोगों ने कहाहजल्दी करो, डॉक्टर के पास ले चलो। वह बोला, डॉक्टर तो मैं ही हूं। अब डाक्टर स्वयं दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो फिर उपचार कौन करे? बड़ी कठिनाई हो जाती है।

शरीर, श्वास, वाणी और मनहये चार तत्त्व हैं उपचार करने वाले और ये ही बीमार हो जाते हैं तो फिर हमारे सामने समस्या पैदा हो जाती है। इनको स्वस्थ बनाएं, सशक्त बनाएं, शिक्षित करें तो हमारी बाधाएं निरस्त हो सकती हैं।

इनको प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया क्या है, यह एक प्रश्न है। प्रक्रिया के चार तत्त्व हैंहप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता। देखना सीखें,

ध्वनि तरंग पैदा करना सीखें, शिथिलीकरण का अभ्यास करें।, शिथिल होना सीखें और जागरूकता का अभ्यास करें। यह पूरी प्रक्रिया है। यदि हम शरीर, श्वास, वाणी और मनहृद्द सबको बदलना चाहें, इनको साधना चाहें, उपयोगी बनाना चाहें तो उसके लिए चार प्रक्रियाएं हैं।

पहली प्रक्रिया है देखने की। हमें देखना सीखना है। भारतीय दर्शन देखने का दर्शन है। आज दर्शन का अर्थ बदल गया। कॉलेजों में, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो दर्शन पढ़ाया जा रहा है वह अनुमान-प्रधान और तर्कप्रधान दर्शन है, किन्तु जो प्राचीन दर्शन रहा है वह है देखना, प्रत्यक्षीकरण, साक्षात्कार। अनुमान नहीं, तर्क नहीं, हेतु नहीं, व्याप्ति नहीं, किन्तु साक्षात्कार, प्रत्यक्षीकरण। यह दर्शन है। हम देखना नहीं चाहते। देखने वाला कोई दूसरी बात देखता है, सोचने वाला कोई दूसरी बात सोचता है। सोचने में और चिन्तन में बहुत अन्तर होता है।

एक दार्शनिक जा रहा था। साथ में था मित्र। चलते-चलते एक प्रसंग बना। सामने से गाय आ गई। रस्सी गाय के बंधी हुई और मालिक रस्सी को थामे हुए। दार्शनिक ने देखा, साक्षात्कार किया, गहराई में गया, मन को छुआ और मित्र से बोलाहबताओ! गाय आदमी से बंधी हुई है या आदमी गाय से? यह तो सीधी सी बात थी। इसमें बहुत गहराई में जाने की जरूरत नहीं थी। उसने तत्काल उत्तर दिया, गाय आदमी से बंधी हुई है। गाय को आदमी पकड़े हुए है, गाय बंधी हुई है। दार्शनिक बोलाहयह गाय रस्सी को छुड़ाकर भाग जाती है तो आदमी क्या करेगा? उस आदमी ने कहाहगाय को पकड़ने के लिए वह उसके पीछे दौड़ेगा। तब दार्शनिक बोलाहइस स्थिति में बताओ, गाय आदमी से बंधी हुई है या आदमी गाय से? अगर आदमी भाग जाएगा तो गाय उसके पीछे नहीं दौड़ेगी। अगर गाय भागेगी तो आदमी को उसके पीछे दौड़ना पड़ेगा। बंधा हुआ कौन है? चिन्तन की भाषा में बंधी हुई है गाय और दर्शन की भाषा में बंधा हुआ है आदमी। दर्शन और चिन्तन में मौलिक अन्तर होता है। दर्शन है साक्षात् देखना।

देखना एक बहुत बड़ा तत्त्व है। श्वास की प्रेक्षा, शरीर की प्रेक्षा और चैतन्य केन्द्र की प्रेक्षाहश्वास दर्शन, शरीर दर्शन और चैतन्य केन्द्रों का दर्शन। प्रश्न होगा कि क्या देखना है श्वास को। श्वास आता है, जाता है। हर क्षण आता है, जाता है, कभी बंद नहीं होता। क्या देखना है उसको? जब तक नहीं देखते तब तक श्वास का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता और यह शिकायत बनी रहती है कि मन कभी टिकता नहीं, बड़ा चंचल है, बहुत

भागता है, कभी रुकता नहीं। किन्तु जिन लोगों ने श्वास-दर्शन का अभ्यास किया है उनकी यह शिकायत समाप्त हो जाती है। वे कहने लगते हैं अब मन कहीं जाता नहीं।

दिल्ली में शिविर था। उसमें दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर आए। उन्होंने कुछ दिनों तक प्रेक्षा का अभ्यास किया। अभ्यास के बाद उन्होंने वार्तालाप के दौरान बताया कि मेरी यह स्थिति थी कि मन कभी कहीं टिकता ही नहीं था। मैंने मंत्रों का जाप किया, और भी कई प्रयोग किए, पर वैसा ही चंचल बना रहा। किन्तु देखने का जब से मैंने अभ्यास किया, स्थिति यह बन गई कि एक घंटे का प्रयोग होता है। जब अन्तिम 'शरण सूत्र' का उच्चारण होता है, तब मुझे पता चलता है, बीच में पता ही नहीं चलता कि क्या हो रहा है।

श्वास-दर्शन मन की स्थिरता के लिए एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। मन में चंचलता कौन पैदा कर रहा है? मन तो पैदा नहीं कर रहा है। आदमी के भीतर की वृत्तियां चंचलता पैदा कर रही हैं। जब-जब वृत्तियां जागती हैं, मन चंचल हो जाता है। चंचल होने में मन का क्या दोष है? वह अपने आप चंचल नहीं है, हम उसे चंचल बना रहे हैं। हमारी वृत्तियां उसे चंचल बना रही हैं। बहुत सारे लोग मन को पकड़ना चाहते हैं, मन को स्थिर करना चाहते हैं। न भूतं न भविष्यतिह्न हुआ है, न होगा। मन की तुलना हम बिजली के पंखे से कर सकते हैं। जब स्विच ऑन होता है, बिजली का प्रवाह आता है और पंखा चलने लग जाता है, चंचल बन जाता है। जब स्विच ऑफ करते हैं, बिजली का प्रवाह रुकता है और पंखा भी रुक जाता है। इसी प्रकार यदि मन को स्थिर करना है तो भीतर की वृत्तियों के स्विच को ऑफ करना होगा। स्विच ऑफ होते ही मन रुक जाएगा, मन बिल्कुल शांत हो जाएगा।

वृत्तियों को शान्त करने के लिए, स्विच ऑफ करने के लिए श्वास बहुत बड़ा माध्यम बनता है। जैसे बटन को दबाने के लिए हमारी अंगुली काम करती है वैसे ही वृत्तियों को शान्त करने के लिए श्वास काम करता है। श्वास के माध्यम से वृत्तियां शान्त हो जाती हैं।

दूसरी बात है शरीर दर्शन। शरीर को देखना है। प्रश्न है कि क्या देखें? चमड़ी को तो देखते हैं। शीशे के सामने खड़े होकर हर आदमी ध्यान से शरीर को देखता है और देखता है अपनी चमड़ी को, अपने रंग-रूप को। यह शरीर-दर्शन नहीं है। शरीर-दर्शन का अर्थ है शरीर के भीतर होने वाली समस्त क्रियाओं का साक्षात्कार करना।

शरीर के भीतर अनेक रसायन हैं, विद्युत् है, हलचलें हैं, प्रकम्पन हैं। शरीर के भीतर ग्रंथियों के स्राव के कारण अनेक रासायनिक परिवर्तन हो रहे हैं। हमारे मस्तिष्क में रासायनिक परिवर्तन हो रहे हैं। चित्त कितने रसायनों को पैदा कर रहा है? उन रसायनों, विद्युत्-प्रवाहों के द्वारा किस प्रकार हमारी आदतें बनती हैं, बिगड़ती हैं, किस प्रकार हमारे मनोभाव बन रहे हैं, बिगड़ रहे हैं हड़न सारी अवस्थाओं को देखने का अर्थ है शरीर-दर्शन। जब श्वास को शान्त कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में हम स्थिर होते हैं, अपनी सारी चेतना को बाहर से हटा कर भीतर में नियोजित करते हैं तब हमें सबसे पहले शरीर के प्रकम्पनों का पता लगने लगता है कि कहां प्रकम्पन हो रहे हैं। प्रकम्पनों का पता एक साथ नहीं, धीरे-धीरे होने लगता है, फिर रसायनों की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होता है, शरीर की अनेक गतिविधियों का पता लगने लग जाता है। यह है शरीर प्रेक्षा, शरीर-दर्शन।

तीसरा है चैतन्य-केन्द्र-दर्शन। हमारे शरीर में अनेक चैतन्य केन्द्र हैं। जैसे तो पूरा शरीर ही चैतन्य केन्द्रों से भरा पड़ा है, किन्तु उपयोगिता के लिए हमने प्रेक्षाध्यान की पद्धति में तेरह चैतन्य केन्द्रों को महत्त्व दिया है। जब चैतन्य केन्द्रों को देखना शुरू करते हैं तब ये चैतन्य केन्द्र सक्रिय होने लग जाते हैं। सक्रिय हैं या निष्क्रिय, यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

श्वास-दर्शन, शरीर-दर्शन और चैतन्य-दर्शनहृये सारे पहली प्रक्रिया, प्रेक्षा में अंगभूत हैं।

दूसरी प्रक्रिया है अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा में चिंतन भी है, ध्वनि-प्रयोग भी है, भावना का प्रयोग भी है। यह एक प्रकार से आत्म-सम्मोहन का प्रयोग है। कल्पना करें किसी आदमी में नशे की आदत है, तम्बाकू पीता है, शराब पीता है, कोई गाली बकता है, गुस्सा करता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न आदतें होती हैं। अब उन आदतों को बदलना है। कैसे बदलें? बहुत सारे लोग आदतों को बदलने के लिए त्याग, संकल्प लेते हैं और शाम होते-होते संकल्प टूट जाता है। बड़ी कठिनाई है। परिस्थिति आती है और त्याग टूट जाता है, क्योंकि वृत्तियां जो भीतर हैं, जिस वृत्ति को छोड़ने के लिए त्याग लिया, उसका जब तक दबाव नहीं आया तब तक तो त्याग निभ रहा है, जब दबाव आता है तो त्याग समाप्त हो जाता है। एक आदमी संकल्प करता है कि शराब नहीं पीऊंगा। जब देखता है किसी शराबी को पागल की तरह पड़े हुए तो सोचता है शराब नहीं पीऊंगा, किंतु ठीक पीने का समय आया, भीतर से मांग आई, सारी संकल्प की बातें धरी रह जाती हैं और वह शराब पीने लग

जाता है। यह संकल्प की विफलता होती है तब आदतें नहीं बदलतीं। क्योंकि आदत काम कर रही है अवचेतन मन के माध्यम से और हम संकल्प कर रहे हैं, चेतन मन के माध्यम से। जब तक हमारी बात अवचेतन मन तक नहीं पहुंची जाएगी, तब तक चेतन की जो अर्जित आदत है वह नहीं बदलेगी। इस समस्या से निपटने के लिए अनुप्रेक्षा यानी भावना का सहारा लेना बहुत जरूरी है।

आज के अनुभवी लोग या वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले लोग सजेशन या ऑटोसजेशन का प्रयोग करते हैं। एक बात को बार-बार दोहराते हैं और अमुक परिस्थिति में दोहराते हैं तो यह बात हमारे अवचेतन मन तक पहुंच जाती है। जैसे श्वास का प्रयोग किया, कायोत्सर्ग का प्रयोग किया, खुमारी जैसी स्थिति हो रही है, नींद आ रही है, इन क्षणों में जो सुझाव दिये जाते हैं, चाहे स्वयं दें या कोई दूसरा व्यक्ति दे, वे सुझाव बहुत गहरे में पहुंच जाते हैं और वे आदत को बदलने में बहुत कारगर बनते हैं। यह अनुप्रेक्षा का प्रयोग, भावना और सम्मोहन का प्रयोग आदत परिवर्तन के लिए बहुत महत्वपूर्ण उपाय बनता है।

तीसरी प्रक्रिया है ह्यकायोत्सर्ग। इसका अर्थ है शिथिलीकरण। हम आज के इस एलोपैथिक और मेडिकल साइंस के जमाने में जी रहे हैं। इन सारी बातों को बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि सारी कठिनाइयां मानसिक तनाव से पैदा होती हैं। बीमारियां, जटिल आदतें और चिन्तन की विकृतियां इन सबके लिए जिम्मेवार होता है मानसिक तनाव। शिथिलीकरण या कायोत्सर्ग एक प्रक्रिया है तनाव विसर्जन की। तनाव कम होता है तो ये मनोकायिक बीमारियां अपने आप कम हो जाती हैं। अनिद्रा, चिन्ता, इनसे होने वाली कठिनाइयां, अपने आप मिटती हैं। एक भाई हृदयरोग से पीड़ित था। डाक्टरों का इलाज चल रहा था, किन्तु बाद में उसने दवाइयों का रास्ता छोड़ा, दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू किया। उस प्रयोग के बाद सारे परीक्षण करवाए तो डाक्टर ने कहा कि तुम्हारा हृदय तो बिलकुल ठीक काम कर रहा है। कोई बीमारी नहीं है। जो धब्बे थे वे भी समाप्त हैं। यह क्या बात है? क्या किया तुमने? हमारे सिद्धांत से यह तो हो ही नहीं सकता। उसने कहा कि मैं दीर्घश्वास का प्रयोग कर रहा हूं और इससे यह सब ठीक हो गया।

जब श्वास शिथिल होता है, शान्त होता है, साथ में शरीर शिथिल और शान्त होता है तो अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं, जटिल आदतों में भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है।

चौथी प्रक्रिया है जागरूकता। हम बहुत बार मूच्छा में अनेक काम करते हैं, जागरूक नहीं रहते और हमारी अजागरूकता के कारण अनेक कठिनाइयां पैदा होती हैं। यदि हम जागरूक रहें तो अनेक समस्याओं से बच भी जाएं। जागरूकता का अभ्यास चलते-फिरते, सोते-बैठते हर समय किया जा सकता है। जो व्यक्ति जागने के समय में जागने का अभ्यास कर लेता है, उसकी जागरूकता नींद में बनी रहती है। योगशास्त्र में, अध्यात्म शास्त्र में दो प्रकार की नींद बतलाई गई है एक सुप्त निद्रा और एक जागृत निद्रा। यानि जागृत निद्रा में आदमी नींद तो लेता है फिर भी बराबर भान बना रहता है हमें नींद ले रहा हूं, मैं जाग रहा हूं। मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा सूत्र है स्मृति-बोध या जागरूकता, सतत जागरूकता। इस पद्धति के माध्यम से जटिल मानसिक रोगों की चिकित्सा की जा सकती है।

प्रेक्षाध्यान की अभ्यास प्रक्रिया के ये चार तत्त्वह्रप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति इन चारों को साध लेता है, इनमें निष्णात हो जाता है, वह अपने जीवन का आनंद लेने में सक्षम हो जाता है। चेतना और शक्ति का संचय इनके माध्यम से होता है और वह व्यक्ति चेतना-संपन्न (विशिष्ट चेतना-संपन्न) और शक्ति-संपन्न बन जाता है।

शिक्षा की समस्या (१)

जगत् में पशु भी हैं, पक्षी भी हैं, और मनुष्य भी हैं। मनुष्य भिन्न श्रेणी का प्राणी है, क्योंकि वह बहुत विकसित है और विकासशील है। उसने बहुत विकास किया। विकास के दो आधार हैं भाषा की स्पष्टता और चिंतन। भाषा और मनहृये दो विकास के माध्यम हैं। मन से स्मृति, कल्पना और चिंतन होता है। मनुष्य में विकसित स्मृति है, विकसित कल्पना है और विकसित चिन्तन है, इसलिए वह विशिष्ट माना जाता है। पशु में भाषा है पर स्पष्ट नहीं है। उसमें चिंतन है, पर तात्कालिक, बहुत लंबा चिंतन नहीं है। मनुष्य की भाषा स्पष्ट है और चिंतन भी विकसित है।

हम ध्यान का प्रयोग करते हैं। उसके द्वारा अतीत की स्मृति को कम करने का, भविष्य की कल्पना को छोड़ने का और वर्तमान में होने का, जीने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रश्न होता है, क्या हम फिर उलटा चल रहे हैं? जो विकास हमें भाषा और चिंतन का प्राप्त हुआ है, उससे उलटा चल रहे हैं? हम मौन का अभ्यास कर रहे हैं, विकल्पों को कम करने का अभ्यास कर रहे हैं, तो क्या यह विकास की प्रक्रिया है? यदि भाषा न हो, चिंतन न हो और वह अच्छी स्थिति मानी जाए तो अविकसित प्राणी बहुत अच्छे हैं, कहां है उनमें भाषा और चिंतन? वनस्पति के जीवों में या कीड़े-मकोड़ों में कहां है भाषा? कहां है चिंतन? क्या हम उस स्थिति में लौट जाना चाहते हैं? क्या हम प्राप्त विकास को भी अवरुद्ध कर देना चाहते हैं? यह प्रयत्न क्यों? क्या यह अच्छा नहीं होता कि हमें भाषा उपलब्ध नहीं होती? मन प्राप्त नहीं होता? क्या यह अच्छा नहीं होता कि हम फिर मनुष्य ही नहीं होते? जब हम मनुष्य बन गए, हमें भाषा और चिन्तन का विकास प्राप्त हो गया, तब फिर उसे रोकने का प्रयोजन ही क्या है? उससे उलटे चलने का अर्थ ही क्या है? हमें जो प्रवृत्ति के स्रोत मिले हैं उन्हें निवृत्ति की ओर क्यों ले जाएं?

भारत में चिन्तन की दो धाराएं सदा रही हैं। एक है प्रवृत्तिवाद और दूसरी है निवृत्तिवाद। प्रवृत्ति और निवृत्तिहयह वस्तु तत्त्व का स्वाभाविक पक्ष

था। इसका अनुभव किया गया था, किन्तु अनुभव की बात जब बुद्धि के स्तर पर चर्चित होती है तब उसकी सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है, केवल स्थूलता बची रहती है। सारे दर्शन-जगत् में यही हुआ है, स्थूल तत्त्व उभर कर सामने आ गए और जो रहस्य थे, सूक्ष्मताएं थीं, वे नीचे ही छिपी रह गईं। प्रवृत्ति और निवृत्ति भी विवाद का विषय बन गया, जबकि इनमें विवाद जैसा कुछ है नहीं। यह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है, न केवल मानवीय जीवन की, परन्तु संपूर्ण प्राणी जगत् की, चेतन जगत् की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इतना ही नहीं, यह जड़ जगत् की भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक पदार्थ या चेतन में दो पक्ष होते हैं—पोजिटिव और नेगेटिव, विधायक और निषेधक। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं होती जिसमें ये दोनों न हों। विधायक पक्ष है हमारी प्रवृत्ति और निषेधक पक्ष है हमारी निवृत्ति।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित है। जहां कहीं यह संतुलन बिगड़ता है, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। कोरी प्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है। कोरा काम आदमी को निकम्मा बना देता है। अनेक लोग प्रवृत्ति में बहुत विश्वास करते हैं। वे प्रवृत्ति करते-करते अपनी शक्ति को इतना खर्च कर डालते हैं कि अतिप्रवृत्ति उनके लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन जाती है। कोरी निवृत्ति भी निकम्मापन लाती है। जब शरीर है तो निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। सक्रियता और निष्क्रियता, चिन्तन और अचिन्तन, विचार और निर्विचार, विकल्प और निर्विकल्प, स्मृति और विस्मृति, भाषा और अभाषा—इन सबका संतुलन अपेक्षित है। हमारा यह प्रयत्न विकास की प्रतिगामी दिशा में जाने का प्रयत्न नहीं है। हमारा सारा प्रयत्न विकास की अग्रिम मंजिल तक जाने का प्रयत्न है। मन मिला, भाषा मिली और हमने विकास की सीमा यहीं तक मान ली। क्रियात्मक मन, चिन्तन की अच्छी शक्ति, भाषा पर अधिकार—यह विकास की अन्तिम सीमा नहीं है। इससे आगे भी बहुत विकास किया जा सकता है। उसकी बहुत संभावना है, परन्तु उस संभावना का द्वार तब तक नहीं खुलता जब तक हम भाषा और मन को समाप्त करने की स्थिति तक नहीं पहुंच जाते। भाषा का न होना, चिन्तन का न होना अविकसित दशा है, किन्तु भाषा और चिन्तन के होने पर भी उनका प्रयोग न करना, विकास की दिशा में पहला प्रस्थान है। जो व्यक्ति अपनी चेतना के नए आयामों को खोलना चाहता है, अपनी चेतना का विस्तार देना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मन के होते हुए भी अमन की स्थिति का अनुभव करें। वाक् होते हुए भी अवाक् का

अनुभव करें। जब भाषा और मन का प्रयोग रुकता है, तब चेतना का नया द्वार खुलता है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शिक्षा प्राप्त करता है, शिक्षित होता है। दूसरे प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। पूरी मनुष्य जाति दो श्रेणियों में विभक्त है। जो मनुष्य भाषा पर अधिकार जमाए हुए है, जो कुछ विषयों को अपनी बुद्धि के भरोसे सौंप देता है वह शिक्षित श्रेणी में आता है। जिसको भाषा पर कोई अधिकार नहीं मिला, जिसका बुद्धि-वैभव शून्य है, वह अशिक्षित श्रेणी में आता है। सब लोग शिक्षा को जरूरी मानते हैं और इसलिए मानते हैं कि यदि समाज में रहना है, समाज में जीना है तो मनोविज्ञान का अध्ययन करना होगा, समाजशास्त्र का अध्ययन करना होगा। मनुष्य को भूख लगती है, प्यास लगती है, उसमें काम की वासना जागती है। इन सबकी पूर्ति के लिए आदमी को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। उसके लिए गणितशास्त्र और व्यापारशास्त्र का अध्ययन जरूरी है। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबका अध्ययन आदमी इसलिए करता है, विशेषतः व्यावसायिक विद्याओं का, कि उसकी भूख मिट सके। इस आधार पर एक भाषा बन गई कि जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने में सहायक होने वाली विद्याओं का अध्ययन करता है वह शिक्षित होता है। ये सारी बातें शिक्षा की सीमा में आ गईं। किन्तु अपने बारे में कुछ जानना जरूरी है, ऐसी धारणा सामाजिक जगत् में अभी तक नहीं बनी है। पता नहीं, यह कैसे हुआ कि आदमी का ध्यान निमित्तों पर अटक गया। उसने उपादान को भुला दिया।

आज सबसे बड़ी समस्या है उपादान और निमित्त की। आज का आदमी निमित्तों को बदल कर सब कुछ करना चाहता है। वह उपादान की ओर ध्यान ही नहीं देता। जब तक निमित्तों को बदलने की बात सामने रहेगी तब तक कोई न कोई कार्य आदमी के समक्ष रहेगा ही। एक निमित्त बदलता है, दूसरा सामने आकर उपस्थित हो जाता है। फिर उसे बदलते हैं, तीसरा उभर आता है। इनका कहीं अन्त नहीं आता। उपादान को बदले बिना स्थायी बदलाव घटित नहीं होता। आज यह बात समझ में नहीं आ रही है। यही कारण है कि हजार प्रयत्न करने पर भी आदमी नहीं बदलता। कैसे बदले? उपदेश की एक सीमा है। भाषा और विचार की अपनी सीमा है। विचार व्यक्ति को प्रेरित करता भी है और नहीं भी करता। भाषा व्यक्ति को प्रेरित करती भी है और नहीं भी करती। अपनी-अपनी सीमा है। यह बदलने का निश्चित उपाय नहीं है। भाषा और विचार से यदि कोई नहीं बदलता तो वे

व्यर्थ हो जाते हैं। उनकी व्यर्थता नहीं है। कुछ बदलता है, किन्तु जितनी मात्रा में बदलना चाहिए उतना नहीं बदलता। इसका कारण स्पष्ट है। जिस बिन्दु पर आदमी बदलता है, उस बिन्दु तक भाषा नहीं पहुंचती, उपदेश नहीं पहुंचता। बदलने का बिन्दु बहुत गहरे में है और भाषा तथा विचार ऊपरी सतह तक ही पहुंच पाते हैं। इस स्थिति में बदलाव कैसे हो? जिसको बदलना है, वहां तक पहुंचने पर ही बदलाव घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जाता, मन की चंचलता को कम नहीं किया जाता तब तक भीतर में जो पहुंचना चाहिए वह नहीं पहुंचता। बदलने की और विकास की क्रिया का पहला सूत्र हैहमन को शांत-स्थिर करना। मन की ऐसी स्थिति का निर्माण हो जिसमें चिंतन भी नहीं, कल्पना की तरंग भी नहीं और स्मृति का एक कण भी नहीं। स्मृति-मुक्त, कल्पनामुक्त और चिंतनमुक्त स्थिति का निर्माण होने पर भीतर तक जाने वाला प्रत्येक मार्ग साफ हो जाता है। उसमें कोई अवरोध नहीं रहता।

एक प्रश्न हैहमबदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति क्यों नहीं आती? इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है। पर मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तेज होती है। उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है, पर बेचारी बुद्धि क्या करेगी? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं, वे सब मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ नहीं है। मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सब विषय आ गए, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता तब तक यदि हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें, यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्वपूर्ण कार्य है मन को शिक्षित करना। आज की शिक्षा-प्रणाली में यही एक सबसे बड़ी कमी है कि उसमें उस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। आदमी को उसकी भीतरी शक्तियों से परिचित नहीं कराया जाता। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है जो ऐसे समय में काम दे सकती है जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। आज के विद्यार्थी को अपनी प्राणशक्ति पर भी भरोसा नहीं है, जानकारी नहीं है। यह देखा जाता है कि एक कमजोर व्यक्ति भी किसी एक शक्ति के आधार पर ऐसा काम कर लेता

है, जिस शक्ति के अभाव में एक हट्टा-कट्टा आदमी भी नहीं कर पाता। शरीर-बल ही सब कुछ नहीं है। शरीर के आधार पर व्यक्तित्व का और शक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। एक पतला-दुबला आदमी हट्टे-कट्टे आदमी से भिड़ कर उसे नीचे गिरा देता है। गिराने वाली शक्ति शरीर की नहीं होती, वह होती है प्राण की। आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया गया है।

प्राण शक्ति की क्षीणता अनेक समस्याओं को उत्पन्न करती है। ध्यान की प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है प्राणशक्ति की क्षीणता को रोकना, उसकी वृद्धि में सहयोग देना।

आज का आदमी धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को मानता है। कितना जानता है, यह अलग प्रश्न है, पर वह मानता अवश्य है। प्रश्न होता है कि अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर इतना बल क्यों दिया जाता है? दूसरा प्रश्न है अहिंसा आदमी को कायर बनाती है। ब्रह्मचर्य आदमी को पागल और विक्षिप्त बनाता है। अपरिग्रह आदमी को भिखारी बनाता है। इतना होने पर इन पर इतना बल क्यों? इन पर बल देने का एक ही रहस्य था कि आदमी की प्राणशक्ति का व्यय कम हो, वह सुरक्षित रहे, उसका संवर्धन हो। एक प्राणशक्ति बढ़ती है तो अनेक शक्तियां बढ़ती हैं। प्राणशक्ति के अभाव में कोई भी बड़ी शक्ति विकसित नहीं होती।

कुछेक मनोवैज्ञानिक इस बात में उलझे हुए हैं कि ब्रह्मचर्य की कोई जरूरत नहीं है मनुष्य के लिए। इससे आदमी विक्षिप्त होता है। वे कहते हैं कि अपरिग्रह की रट ने देश को बहुत गरीब और दरिद्र बना डाला है। उन वैज्ञानिकों की पहुंच वहीं तक हो पाई थी। अब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति का कितना व्यय होता है? प्राणशक्ति का कितना खर्च होता है? आज की पूरी पश्चिमी सभ्यता में जो एक मानसिक विकल्प आया है, उसका सबसे बड़ा कारण है यौन-स्वच्छन्दता। वहां काम-सेवन पर न सामाजिक प्रतिबंध है और न आंतरिक प्रतिबंध है। उसका परिणाम यह हुआ है कि वहां पागलपन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह निश्चित है कि आदमी जितना अधिक कामुक होगा, शक्ति का उतना ही क्षरण अधिक होगा। जब शक्ति ज्यादा क्षीण होती है तब चित्त में बेचैनी, पागलपन और अस्त-व्यस्तता आती है। फिर उस व्यक्ति में शांति की भूख जागती है। वह खोजता है, शांति कैसे मिले? अशांति और है क्या? अशांति और कुछ भी नहीं। शक्ति का जितना अधिक क्षरण होता है, उतनी ही मात्रा में अशांति भीतर जागती है। हिंसा ने आदमी

को कितना क्रूर और पागल बनाया है? परिग्रह के चिंतन और ममत्व ने प्राणशक्ति का कितना क्षरण किया है? प्राणशक्ति के विषय में कोई विचार नहीं करता। सब हिंसा-अहिंसा और ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य की चर्चा में ही उलझ जाते हैं, परिग्रह और अपरिग्रह को वाद-विवाद का विषय बना देते हैं परन्तु इन सबके पीछे जो मूल कारण था, वह था प्राणशक्ति का क्षरण न हो, व्यय न हो। यह भी खोज लिया गया कि चित्त का जितना असंतुलन, जितनी विषमता होगी, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। प्रियता और अप्रियता का संवेदन जितना होगा, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। इसलिए एक सूत्र दिया समता, सामायिक और संतुलन का। प्रिय-अप्रिय परिस्थिति होने पर मन का संतुलन ने बिगड़े, समभाव बना रहे। समभाव और समता से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है, संरक्षण होता है। समभाव का अभ्यास मन का तीसरा आयाम है। आदमी मन के दो आयामों में जीता है। एक है प्रियता का आयाम और दूसरा है अप्रियता का आयाम। समता का आयाम उसे कभी नहीं मिला। वह समता के तट पर कभी खड़ा होना नहीं चाहता।

यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य हैहमन का संतुलन, मन की शांति, मन का निर्विकल्प होना। इस ओर लोगों ने कभी ध्यान ही नहीं दिया। शिक्षा-जगत् में भी यह उद्देश्य उपेक्षित ही रहा। आज व्यक्ति पढ़-लिखकर अच्छा वैज्ञानिक बन जाता है, इंजीनियर या डाक्टर बन जाता है, विशेषज्ञ बन जाता है, फिर भी वह लड़ाई करता है, निंदा और ईर्ष्या में फंसा रहता है, आत्महत्या कर लेता है। यह क्यों? यह बड़ा प्रश्न है। अशिक्षित व्यक्ति बुराइयों में फंसे, यह समझ में आ सकता है, परन्तु शिक्षित व्यक्ति भी उतनी ही बुराई करे, तब आश्चर्य होता है। एक वैज्ञानिक जब ईर्ष्या और आवेश की ज्वाला में जल उठता है और आत्महत्या कर लेता है तब आश्चर्य होता है। शिक्षा से उसे क्या मिला? क्या शिक्षा से वह इतना भी अनुशासन नहीं सीख सका कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना संतुलन रख सके? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक प्रश्नों को उभार देना है और उनका बौद्धिक समाधान दे देना मात्र है। सारी शिक्षा इसी सीमा में चल रही है। दो विद्वान मिलते हैं, दो पण्डित मिलते हैं और आपस में विवाद शुरू हो जाता है, लड़ाई प्रारंभ हो जाती है तो फिर चरित्र और आचार का आधार क्या बनता है?

दो विद्वान् सेठ के घर पहुंचे। सेठ ने उन्हें भोजन का निमंत्रण दिया।

दोनों ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। भोजन का समय हुआ। एक विद्वान पहले आ गया। सेठ ने पूछा 'आपके साथी का परिचय जानना चाहता हूँ।' उसने कहा 'सेठजी! क्या पूछते हैं? मेरे साथ रहता है, इसलिए विद्वान माना जाता है। वह पढ़ा-लिखा मूर्ख है, बना बनाया बैल है।' सेठ ने कहा 'ठीक है। इतने में वह साथी आ गया। सेठ ने उसे दूसरे कमरे में ले जाकर बिठाया, पूछा 'आपके साथी का परिचय?' 'सेठजी! न पूछो तो ठीक है। उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। मेरे साथ रहता है, इसलिए लोग उसकी पूजा करते हैं। वह तो गधा है।' सेठ ने कहा 'ठीक है।'

दोनों को भोजन करने बिठाया। दो थाल परोसे गए। दोनों कपड़ों से ढके थे। कपड़ा हटाया। दोनों विद्वान अवाक् रह गए। यह क्या? एक थाल में भूसा ओर दूसरे में चारा।

सेठ ने कहा 'क्षमा करें। मैं तो आप दोनों को जानता ही नहीं था। मैंने दोनों का परिचय एक दूसरे से जाना और उसी के अनुसार भोजन परोसा। गधा भूसा खाता है और बैल चारा खाता है। यही तो परिचय आपने दिया था।'

मनुष्य में यह मनोवृत्ति होती है। वह दूसरों को नीचा दिखाकर अपने को उंचा दिखाना चाहता है। आत्मोत्कर्ष और हीनता की भावना यदि आदमी में न रहे तो समाज का रस ही समाप्त हो जाए। आदमी का सबसे बड़ा रस इस बात में होता है कि और सब छोटे बन रहें, मैं बड़ा बन जाऊँ।

बादशाह औरंगजेब को कारावास में डाल दिया गया। उसने कहा 'हयहां मैं बिना मौत मर जाऊंगा। एक प्रार्थना है कि मुझे दस-बीस बच्चे दे दो। मैं कारावास में उन्हें पढ़ाता रहूंगा। उनकी पढ़ाई भी होगी और मेरा समय भी अच्छी तरह से बीतेगा। ऐसी व्यवस्था भी कर दी गई। बादशाह कुर्सी पर बैठता और सामने की फर्श पर बच्चे बैठते। वह बच्चों को डांटता। उसे रस की अनुभूति होती। जो रस पहले मुल्क पर शासन करने में आता, वही रस दस-बीस बच्चों पर अनुशासन करने में आने लगा। राज्यसिंहासन पर बैठने में जो रस आता, वही रस कारावास की कुर्सी पर बैठने में आने लगा। इसमें अन्तर क्या है? चाहे पचास आदमियों पर हुकूमत करो और चाहे पचास हजार आदमियों पर हुकूमत करो। अन्ततः हुकूमत हुकूमत होती है। उसकी सीमा तो है। कोई भी एक व्यक्ति ऐसा नहीं है जो समस्त विश्व पर शासन करता हो, सबकी सीमा है।

मनुष्य को इसमें सहज रस की अनुभूति होती है कि एक बड़ा रहे और

दूसरा छोटा रहे। आदमी जाने या न जाने, माने या न माने, कहे या न कहे, यह रस प्रत्येक आदमी के अन्तःकरण में ऐसा प्रतिष्ठित है कि वह छूटता ही नहीं है या कठिनाई से छूटता है। वह चाहता यही है कि मैं बड़ा रहूँ, दूसरे छोटे रहूँ। यदि दूसरे छोटे न हों तो बड़ा बनने में रस ही क्या रहा? जब बड़ा होने का रस नहीं है, छोटा होने की स्थिति नहीं है तो फिर बहुत कुछ धन, पदार्थ होने का भी अर्थ नहीं है। यह एक कठिन समस्या है। आदमी इस ओर ध्यान ही नहीं देता। ध्यान दिए बिना यह सुलझे भी तो कैसे?

आज की शिक्षा-प्रणाली की यह सबसे बड़ी विडम्बना है। हम अपेक्षा करते हैं कि आज की शिक्षा से अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो, अच्छा समाज बने, बुराइयां कम हों, यह सब चाहते हैं। शिक्षाशास्त्री भी यही चाहता है और अभिभावक भी यही चाहता है कि बच्चे सुसंस्कारित बनें, अच्छे नागरिक बनें। किंतु उन सबकी यह चाह या धारणा सफल नहीं होती क्योंकि जो मार्ग चुना है वह सही नहीं है।

बच्चा सर्दी से ठिठुर रहा था। मां आई, उसको एक कपड़ा ओढ़ा दिया। इतने में पिता आया, कपड़े को एक ओर रख दिया। मां ने देखा, बच्चा ठिठुर रहा है। उसने पुनः वह कपड़ा बच्चे पर डाल दिया। पिता ने पुनः कपड़े को हटा दिया। मां ने कारण पूछा। पिता बोलाहस्तुम नहीं जानती इस बात को कि कपड़े अधिक होंगे तो बच्चा कमजोर हो जाएगा। इसे सर्दी को सहन करने दो, जिससे कि बच्चा मजबूत बने।

तेरापंथ के महान् आचार्य पूज्य कालूगणी कई बार कहतेहैं 'मैं अपनी मां का इकलौता बेटा था। पिता रहे नहीं। मां का बहुत लाड़-प्यार था। वह मुझे बाहर नहीं जाने देती। मैं खेलने से वंचित रह गया। घर में बैठा रहता। बैठे-बैठे घुटने कमजोर हो गए। आज तक उस कमजोरी को भोग रहा हूँ।'

जो बच्चे बचपन में खेल लेते हैं, उनकी हड्डियां मजबूत बन जाती हैं और जिनको घर में बिठाए रखा जाता है और यह समझा जाता है कि बड़े घरों के बच्चे बाहर कैसे जाएं, वे बच्चे कमजोर रह जाते हैं, उनकी हड्डियां कमजोर रह जाती हैं।

बगीचा था। उसमें छोटे-बड़े वृक्ष और पौधे थे। तूफान आया, पेड़ हिलने लगे; पौधे अधिक हिल उठे। ऐसा लगने लगा कि पौधे उखड़ जाएंगे। बगीचे के मालिक ने देखा। उसने माली को बुलाकर कहाहैं 'तूफान तेज हो रहा है। संभव है सारे पौधे उखड़ जाएं। सारी मेहनत बेकार चली जाएगी। इन्हें बांध क्यों नहीं देते? बांधने से ये उखड़ेंगे नहीं।'

माली बोलाह 'मालिक! बांध तो दूंगा, पर ये कमजोर रह जायेंगे। जो पौधे प्रारंभ में तूफान के प्रहारों को सह लेते हैं, वे मजबूत हो जाते हैं, वे कभी उखड़ते नहीं। जो पौधे बांध दिए जाते हैं, वे उस तूफान से तो बच जाते हैं, पर जीवन भर कमजोर रह जाते हैं। प्रतिफल यह आशंका बनी ही रहती है कि वे अब उखड़े, अब उखड़े। जो दूसरों के सहारे जीता है वह कमजोर रह जाता है।'

एक बहुत बड़ी शक्ति हैहसहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइयां झेलते हैं वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

यह सब जीवन विज्ञान की शिक्षा के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। यह विद्याशास्त्रीय शिक्षा के द्वारा कभी नहीं हो सकता। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबको पढ़ लो, किंतु सहिष्णुता की शक्ति नहीं जाग पाएगी, समता का विकास नहीं हो पाएगा। विद्या की एक शाखाहजीवन विज्ञान की शाखा ही एक ऐसा माध्यम बन सकती है जो आदमी की आंतरिक शक्तियों को जगाकर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग सुन्दर बना सकती है। जब तक इस शाखा की उपेक्षा अपेक्षा में नहीं बदलेगी, उसका विकास नहीं होगा, तब तक कष्ट-सहिष्णुता या समता का भाव नहीं आ पाएगा, मनोबल का विकास नहीं हो सकेगा। मनोबल जो विकसित होता है, वह टूट जाता है। परिस्थिति आती है और आदमी अधीर हो जाता है। उसमें सहने की ताकत नहीं रहती।

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं वह संयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनाएं घटित होती हैं, दुर्घटनाएं होती हैं। अनेक व्यक्ति मर जाते हैं। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितियां पैदा होती हैं। आदमी में उन्हें झेलने की शक्ति नहीं रहती। इस स्थिति में क्या यह संभव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोड़नी होगी, और वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढ़ाने की शिक्षा।

बहुत बार मैंने देखा है कि जैन मुनि सर्दियों में एक कपड़ा ओढ़ते हैं, दो कपड़े ओढ़ते हैं। गर्मी में आतप लेते हैं। चिलचिलाती धूप में शिला पर दो-तीन घंटा लेट जाते हैं। प्रारंभ में मुझे ऐसा लगा कि यह कितनी कठोर तपश्चर्या है! क्या यह आवश्यक है? क्या यह व्यर्थ प्रयत्न नहीं है? जब शरीर को कपड़ों की जरूरत है तो फिर एक या दो कपड़े ही क्यों ओढ़े जाते हैं? जब

शरीर को छाया की जरूरत है तो फिर धूप का सेवन क्यों किया जाता है? शरीर को अनावश्यक कष्ट और क्लेश क्यों दिया जाए? बड़ा अजीब है यह धर्म!

जैसे-जैसे मैं स्वयं साधना के अनुभवों से गुजरा, मुझे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि जब तक साधक काया को नहीं साध लेता, काय-सिद्धि नहीं कर लेता, तब तक सत्य के शोध की मंजिल तो तय होती ही नहीं, किन्तु असत्य के भयंकर परिणाम उसे भुगतने पड़ते हैं। कायक्लेश शरीर को सताने की प्रक्रिया नहीं है। इसके द्वारा शरीर इतना साध लिया जाता है कि वह हर परिस्थिति को झेल लेता है। जैसे जैसे श्वास के प्रति जागरूकता होती है, वैसे वैसे काया की सिद्धि सधती जाती है। श्वास की आंच में तपने वाली काया कभी कच्ची नहीं रहती। भगवान् महावीर ने भयंकर कष्ट सहे। अन्यान्य साधकों ने भी कष्ट सहे। क्या वे उन कष्टों का प्रतिकार नहीं कर सकते थे? उनके सामने दो मार्ग थे। एक था सहने का मार्ग और दूसरा था प्रतिकार का मार्ग। उन्होंने सहने के मार्ग को अपनाया। वे कष्टों को सहते गए और सहते-सहते उनका समूचा शरीर चुम्बकीय-क्षेत्र बन गया। प्रत्येक साधक चाहता है कि उसे अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति हो। क्या अतीन्द्रियज्ञान का होना कोई छोटी बात है, कि वह छोटे से प्रयत्न से हो जाए? हम कांच में मुंह देख सकते हैं, क्योंकि यह निर्मल है। पारदर्शी कांच के द्वारा हम पार की वस्तु देख सकते हैं, पर पहले पारदर्शी होना होता है। पारदर्शी अवस्था प्राप्त होने पर पार की वस्तु देखी जा सकती है। अतीन्द्रिय ज्ञान-चेतना का अर्थ है पार की वस्तु को प्रत्यक्ष देख लेना। पार की चेतना तब जागेगी जब पूरा शरीर चुम्बकीय-क्षेत्र बन जाएगा।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रकट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय-क्षेत्र नहीं बना लेता, इलेक्टोमेग्नेटिक फील्ड नहीं बना लेता, तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रों और चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है शरीर को चुम्बकीय-क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास सहइन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

जीवन विज्ञान की शिक्षा के द्वारा चेतना का यह आयाम उद्घाटित हो सकता है। जीवन विज्ञान की शिक्षा का तात्पर्य है हमन को शिक्षित करना,

वाणी को शिक्षित करना, काया को शिक्षित करना। शरीर को शिक्षित करने का तात्पर्य हैहृएक ही आसन में लंबे समय तक बैठे रहने की क्षमता प्राप्त कर लेना, आसन-सिद्धि कर लेना। वाणी को शिक्षित करने का अर्थ हैहृमन में कितनी ही तरंगे उठें, पर बोलने की कोई धारा का नहीं होना। इसी प्रकार मन को शिक्षित करने का अर्थ हैहृअनर्गल स्मृति, कल्पना और चिंतन से बचना।

अंतरिक्ष की यात्राएं होने लगी हैं। अंतरिक्ष यात्री को योग का प्रशिक्षण दिया जाता है क्योंकि वहां उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल प्रवृत्ति में होता है, वह व्यक्ति उन कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता। अंधेरे को सहन करना, अकेलेपन को सहन करना, अकेले में उदास न होना, पागल न होना, बहुत संयत रहनाहृये सारी स्थितियां योग साधना के बिना संभव नहीं हो सकती, इसलिए योग का प्रशिक्षण देना अनिवार्य हो जाता है।

क्या जीवन की यह दीर्घ यात्रा अन्तरिक्ष यात्रा से कम है? अंतरिक्ष यात्रा में दस-बीस-पचास दिन लग जाते हैं, पर जन्म से मृत्यु तक की यात्रा ७०-८० वर्ष की यात्रा, बहुत लंबी होती है। एक जीवन में हजारों बार की अन्तरिक्ष यात्राएं समाप्त हो जाती हैं। इस जीवन यात्रा में कितनी कठिनाइयां आती हैं? उस अवस्था में हम असहाय होते हैं, क्योंकि आज की शिक्षा से दिमाग में अन्य तत्त्व तो भर दिए जाते हैं, किंतु असहाय की स्थिति होने पर उससे लोहा लेने की बात नहीं सिखाई जाती। आदमी घुटने टेक देता है और नष्ट हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा-पद्धति ने आदमी को केवल भागना सिखाया है।

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी को लड़ने के दांव-पेच सिखा रहा था। पूछने पर अध्यापक ने कहाहृमैंने अपने विद्यार्थी को लड़ने के लिए महत्त्वपूर्ण नौ दांव-पेच सिखा दिए हैं। दूसरे ने पूछाहृयदि कोई तगड़ा व्यक्ति इससे आ भिड़ेगा तो यह क्या करेगा? अध्यापक बोलाहृयह गुर भी मैंने बता दिया है कि जब ऐसी असहाय स्थिति आए तब नौ-दो-ग्यारह हो जाना, पलायन कर जाना। यह दसवीं कला है।

यह कला बहुत अच्छी है। जो लोग आज शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, कुछ सीख रहे हैं, वे दसवां दांव ही अधिक सीख रहे हैं। वे सीखते हैं कि जो भी समस्या आए उसका सामना मत करो, पलायन कर दो, भाग जाओ, घुटने टेक दो। आदमी की मूँछ ऊपर तनी हुईं रहे तो क्या, और नीचे झुकीं रहे तो क्या! क्या अन्तर पड़ता है।

ध्यान कोई अजीब प्रक्रिया नहीं है। यह जीवन विज्ञान की शिक्षा का अनिवार्य अंग है। जो व्यक्ति मन को शिक्षित करना जान लेता है, कठिनाइयों को झेलना सीख लेता है, परिस्थितियों में अडिग खड़ा रहना सीख लेता है, घुटने नहीं टेकता, वह व्यक्ति यथार्थ में ध्यान का अधिकारी होता है। वही वास्तव में ध्यान कर सकता है, वही ध्यान में सफल हो सकता है।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य शिक्षित कहलाता है और वह सर्वत्र आदर पाता है। वह आदरास्पद होता है। हमें इसके साथ यह भी जोड़ देना है कि ज्ञानी की अपेक्षा चरित्रवान् व्यक्ति अधिक आदरास्पद होता है। ज्ञानी के प्रति अंगुलियां उठ सकती हैं कि वह कितना लड़ाकू है, बदमाश है, किंतु चरित्रवान् के प्रति सहजतया अंगुलियां नहीं उठती। उसके प्रति सहज आदरभाव होता है।

हमारे समक्ष दो दिशाएं हैं। एक है ज्ञान की दिशा और दूसरी है चरित्र की दिशा। इन दोनों में महत्त्वपूर्ण है चरित्र का विकास। चरित्र का विकास जीवन विज्ञान की शिक्षा के बिना संभव नहीं है। ध्यान और कुछ नहीं है। वह है जीवन-विज्ञान की शाखा को विकसित करना, अपने आपको जानना, अपने मन को शिक्षित करना, अपनी सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाना। हमारे भीतर सहन करने की अनंत शक्ति विद्यमान है। उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। किंतु वह सोयी पड़ी रहती है। हम उस पर आवरण डालते जाते हैं। एक पर दूसरा आवरण और दूसरे पर तीसरा। यह क्रम चलता रहता है। जो सर्दी में अपने आपको कपड़ों से लाद लेते हैं, निरन्तर सिर पर कपड़ा बांधे रखते हैं, उनकी चमड़ी इतनी दुर्बल हो जाती है कि वे तत्काल जुकाम से पीड़ित हो जाते हैं। सहने की शक्ति समाप्त हो जाती है। उनका शरीर दुर्बल हो जाता है।

बाह्य जगत् और अन्तर जगत् में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। बाह्य और अन्तर जगत्दोनों वास्तविक हैं। दोनों को स्वीकार करना है। व्यवहार को भी स्वीकार करना है और निश्चय को भी स्वीकार करना है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना, यह ध्यान है, यह जीवन का विज्ञान है और यह शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग होना चाहिए।

शिक्षा की समस्या (२)

हमारी शिक्षा ओब्जेक्टिव है। शिक्षा ज्ञेय की होती है, ज्ञाता की नहीं होती। हम ज्ञेय को बहुत जानते हैं, पर ज्ञाता को नहीं जानते। जानने वाले को हम नहीं जानते, जो जाना जाता है उसे बहुत जानते हैं।

आदमी के सामने पहला प्रश्न आता है आहार का और शरीर का। यह अनावश्यक प्रश्न भी नहीं है। यह जीवन की पहली आवश्यकता है। पहली आवश्यकता पूरी होती है तो जीवन की शेष सभी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं। पहली आवश्यकता ही पूरी नहीं होती है तो सब आवश्यकताएं अधूरी रह जाती हैं।

भोजन और शरीर पर शिक्षा का ध्यान सबसे अधिक केन्द्रित हुआ। उसने यह रास्ता प्रशस्त किया कि प्रत्येक आदमी आजीविका प्राप्त कर सके, जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सके, शरीर को पोषण दे सके, भोजन की सामग्री जुटा सके। किंतु मनुष्य शरीर मात्र नहीं है। शरीर है, प्राण है, इन्द्रियां हैं, भाषा है, मन है, बुद्धि है। इतना तो दृश्य है। अदृश्य इससे बहुत बड़ा है। उसे हम एक बार छोड़ दें, यह मानकर कि अदृश्य पर किसी का विश्वास जमता है और किसी का नहीं भी जमता, किंतु दृश्य जगत् भी कम छोटा नहीं है। मन की सत्ता बहुत बड़ी है। बुद्धि का साम्राज्य बहुत विशाल है। इन्द्रियों की शक्ति बहुत विपुल है। भाषा और प्राण का बल भी अन्यून है। ये सब हमारे सामने हैं। क्या शिक्षा मात्र इतनी ही है कि जिससे शरीर को पोषण मिले और उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जायें? शिक्षा का क्षेत्र इतना सीमित नहीं है। शिक्षाविदों ने इस पर ध्यान भी दिया है। उन्होंने शिक्षा की व्यवस्था में शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक और बौद्धिक विकास की भी व्यवस्था की है। उसकी पूरी समायोजना है। वे चाहते हैं एक बच्चे का शारीरिक विकास भी हो, मानसिक और बौद्धिक विकास भी हो। इन तीनों की पूरी व्यवस्था है। इससे आगे वे व्यवस्था कर भी नहीं सकते। कैसे करते? जो शिक्षाशास्त्री हैं, वे भी तो उसी दुनिया के प्राणी हैं जिस दुनिया में विद्यार्थी

जीते हैं, अभिभावक जीते हैं और दृश्य-जगत् की पूरी कल्पना के साथ जीते हैं। दृश्य-जगत् से परे उनकी कोई योजना नहीं हो सकती, कोई व्यवस्था नहीं हो सकती और वे कर भी नहीं सकते। जीवन-यात्रा के लिए यह मान लिया गया है कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास पर्याप्त है। यह मानना भ्रान्तिपूर्ण है, अधूरा है, पर मान लिया गया है।

बड़ा आश्चर्य होता है कि जो मूल है वह बेचारा दुःख पा रहा है, रो रहा है और जो गौण है, सहायक है वह अपना पूरा आधिपत्य जमाए बैठा है। ज्ञाता मूल है। जानने वाला मूल है। यदि जानने वाला न हो इस दुनिया में तो पदार्थ पदार्थ रहेगा, उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आ पाएगा। सारे परिवर्तन ज्ञाता करता है। ज्ञाता है मनुष्य। सभी परिवर्तनों का घटक है मनुष्य। सारे परिवर्तन प्राणी करता है। इस स्थूल दुनिया का विकास प्राणी ने किया है। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा, उसमें परिवर्तन की क्षमता होती है। प्राणी ने इस जगत् को दृश्य बनाया है। यह दृश्य सृष्टि प्राणियों की संरचना है। जितने पहाड़ बने हैं, वे प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। पानी और अग्नि प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। हवा प्राणियों के आधार पर चलती है। सारा वनस्पति जगत् प्राणियों की देन है। जो चल जगत् है, दो इन्द्रिय वाले प्राणियों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले प्राणियों तक, वह इस दुनिया का निर्माता है। वे प्राणी ही सृष्टि की सर्जना कर रहे हैं। यदि ईश्वर को इस अर्थ में सृष्टि का कर्ता माना जाए तो वह गलत नहीं है। सृष्टि का कर्ता तो कोई न कोई है ही। बिना किये कोई चीज कैसे बनेगी? कर्ता अवश्य ही है, पर अन्तर इतना ही है कि वह कर्ता कोई एक शक्ति नहीं है, एक सत्ता नहीं है, किंतु अनगिनत सत्ताएं और अनन्त शक्तियां हैं जो हमारी सृष्टि का निर्माण करती हैं। यदि एक ज्ञाता न रहे, एक प्राणी न रहे, एक चेतन सत्ता न रहे तो फिर कोरा अंधकार ही अंधकार होगा, प्रकाश का प्रश्न ही नहीं उठेगा। प्रकाश की सारी परिकल्पना प्राणी ने की है। प्रकाश का सारा विकास प्राणी ने किया है। दुनिया में जो कुछ प्रकाश की किरणें हैं, वे सब प्राणियों की ही देन हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि हमारे जगत् की जो मूल सत्ता है, चेतन सत्ता है, प्राणी की सत्ता है, उसके विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है, अपने स्वयं के बारे में कोई जानकारी नहीं है, ज्ञाता के बारे में कोई जानकारी नहीं है और ज्ञेय के विषय में दुनिया भर की जानकारी है। यह इस सत्य का द्योतक है कि जो मूल है वह बेचारा दरदर का भिखारी बनकर भीख मांग रहा

है और उसका प्रतिबिम्ब हजारों में बिक रहा है। बिम्ब रो रहा है, प्रतिबिम्ब हंस रहा है।

एक युवा चित्रकार था। उसके मन में एक विचार आया कि युवती का एक ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक चित्र बनाऊँ जो कलापूर्ण, गरिमापूर्ण, प्रभावी और वास्तविक हो। चित्रांकन के लिए उपयुक्त युवती की खोज में वह गांव-गांव और अनेक नगरों में घुमा। सर्वत्र उसे कृत्रिम सौन्दर्य ही मिला। वह निश्छल और यथार्थ सौन्दर्य की टोह में महीनों तक घुमा। नगरों की चकाचौंध को छोड़ वह गांव में आया। मार्ग में उसने एक युवती को देखा। उसकी आंखें निश्छल और स्वाभाविक सौन्दर्य पर अटक गईं। उसने उस युवती का रेखांकन किया। उसमें स्वाभाविक रंग भरे और वह चित्र सजीव युवती का बोधक हो गया।

कुछ महीनों बाद एक बड़े शहर में उसके चित्रों की प्रदर्शनी लगी। उसमें अनेक प्रकार के चित्र सजाए गए। उसी युवती का चित्र भी उस कक्ष में रखा गया। चित्रों की प्रदर्शनी को देखने के लिए हजारों लोग आते। हरदम भीड़ लगी रहती। सब लोग उस युवती के चित्र को देखकर मंत्रमुग्ध रह जाते। वह चित्र सबकी आंखों में समा गया। कुछ लोग उसे खरीदने के लिए उतावले हो उठे। उस चित्र पर बोली लगी और एक साहूकार ने उसे दस हजार रुपये में खरीद लिया।

विचित्र होता है भाग्य! दुर्दिन आए और वही ग्रामीण युवती भीख मांगने के लिए उसी चित्र-प्रदर्शनी के द्वार पर आयी। वह आने-जाने वालों के सामने हाथ पसार कर भीख मांगने लगी।

सेठ उस युवती के आकर्षक चित्र को हाथ में लिए बाहर निकला। युवती ने भीख मांगते हुए हाथ पसारा। सेठ ने उसे दुत्कार दिया। उसे यह ज्ञात नहीं था कि जिस चित्र को उसने दस हजार रुपयों में खरीदा है, वह इसी युवती का है।

प्रतिबिम्ब दस हजार में बिक रहा है और बिम्ब या मूल दो पैसों के लिए दुत्कार पा रहा है।

यह दुनिया का आश्चर्य है कि यहां मूल बेचारा आंसू बहाता है और उसकी छाया, उसका प्रतिबिम्ब हजारों के मूल्य में बिकता है। ऐसा ही कुछ हो रहा है आज की शिक्षा जगत् की परिक्रमा में। वास्तविकता यह है कि जो मूल है उसकी जानकारी सबसे पहले होनी चाहिए, पर वह बेचारा उपेक्षित कहीं कोने में बैठा सिसक रहा है और जानने वाला उन सबको जान रहा है जिनको

जानने की जरूरत शायद उतनी कभी नहीं रही होगी।

हम इस तथ्य को निश्चित रूप से जानते हैं कि कोई भी एक आदमी सारी विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। अपने पूरे जीवन में सारी विद्याएं नहीं जानी जा सकती। हमारी इस दुनिया में इतनी विद्याएं हैं कि जिनकी गिनती करना भी कठिन है। हजारों प्रकार के शिल्प हैं, हजारों कलाएं हैं, हजारों विद्याएं हैं। एक आदमी इन सबको कैसे जान सकता है? एक आदमी हजारों के आधार पर जीता है। आज कोई आदमी रोटी खाता है, जीता है तो क्या वह अपने अकेले के बलबूते पर जीता है? यदि कोई इसका उत्तर हां में दे तो वह झूठा अभिमान होगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के सहारे जीता है। एक-दो के सहारे नहीं, हजारों आदमियों के सहारे जीता है।

खेती दूसरा करता है, अनाज मिल जाता है। चीनी दूसरा बनाता है, चीनी उसे मिल जाती है। बीमारी होती है तो डॉक्टर के सहारे जीता है। मुकदमा लड़ना होता है तो वकील के सहारे लड़ता है। हिसाब करना होता है, तो हिसाब-परीक्षक के सहारे करता है। आदमी कितने सहारों से पलता है! कितने सहारों से जीता है! इस दुनिया में केवल अपने ही सहारे पलने वाला, जीने वाला कोई नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो समाज कभी नहीं बनता। समाज इसीलिए बना कि व्यक्ति अकेला कभी जी नहीं सकता। समाज है, सहारा है, इसलिए वह जी रहा है। इसलिए यह मानना होगा कि मनुष्य को अनेक विद्याओं की जरूरत होती है और शिक्षा-शास्त्रियों ने अनेक विद्याओं का विकास भी किया है उन विद्याओं को पढ़ाने के लिए, उन्हें हस्तगत कराने के लिए। तो फिर हम चर्चा क्यों करते हैं कि आज शिक्षा-प्रणाली में कोई कमी है? बार-बार यह स्वर क्यों उभरता है? जो शिक्षाशास्त्री हैं, वे भी यह कहते हैं कि शिक्षा की पद्धति समुचित नहीं है। राजनेता भी यही कहते हैं। पर वह समुचित या अच्छी क्यों नहीं है, यह कोई नहीं जानता। शिक्षा में क्या कमी है, यह कोई नहीं बता पता। कमी को कैसे पूरा किया जाए, इसे कोई नहीं जानता। यदि वे जानते तो आज तक ठीक हो जाती। इन पचीस-तीस वर्षों में शिक्षा से संबंधित कितने आयोग बैठे, पर आज तक कोई समाधान नहीं मिला। यह शिक्षा जगत् की बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या में अध्यात्म भी जुड़ा है, ध्यान और साधना भी जुड़ी हुई है।

आज सबसे बड़ी कमी जो अनुभव में आ रही है वह यह है कि आज के आदमी में अनुशासन नहीं है। प्रयत्न होता है कि विद्यार्थी में अनुशासन आए। कोई भी सत्ताधीश यह नहीं चाहता कि विद्यार्थियों में अनुशासन न आए।

पिता भी यह नहीं चाहता कि घर में अनुशासन न हो। गुरु भी यह कभी नहीं चाहता कि शिष्य अनुशासन में न रहें। प्रत्येक व्यक्ति अनुशासन चाहता है इतनी चाह होने पर भी अनुशासन नहीं आ रहा है। यह बहुत बड़ी समस्या है। जिसकी चाह हो और वह नहीं हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है किंतु जिसकी अत्यन्त आवश्यकता हो और वह न हो तो लगता है कि कहीं न कहीं कुछ कमी है।

शिक्षा के माध्यम से मानसिक और बौद्धिक विकास होता है पर अनुशासन का विकास क्यों नहीं होता, इस पर भी हम ध्यान दें। अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही। एक है वह तट और दूसरा है यह तट। अब इस तट पर खड़ा आदमी यह चाहे कि वह तट यहां आ जाए, यह कभी संभव नहीं है। दो तट कभी आपस में मिलते नहीं। यदि मिल जाएं तो वे फिर तट नहीं रहते। बीच में पानी की धारा बह रही है। दोनों मिले हुए नहीं हैं, इसीलिए तट हैं। इसी प्रकार हमारे भी दो तट हैं। एक है बौद्धिकता का तट और दूसरा है अनुशासन का तट। बौद्धिकता में ज्ञान की सारी प्रक्रियाएं आ जाती हैं। मन का विकास हो, चाहे इन्द्रियों का विकास, यह इसी तट की बात है। दूसरा तट है अनुशासन का। इन दोनों के बीच जीवन की धारा बहती है। जब तक आदमी इस तट को छोड़कर उस तट पर नहीं पहुंचेगा, तब तक अनुशासन नहीं आएगा।

आश्चर्य होता है यह देखकर कि पढ़ा-लिखा आदमी भी बहुत क्रोध करता है। पढ़ा-लिखा आदमी भी बेईमानी करता है, चोरी करता है, दूसरों को कष्ट देता है पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि वह पढ़ा-लिखा है, उसमें बुद्धि का विकास हुआ है और बुद्धि का यह काम ही है। बुद्धि से तर्क पैदा होता है और तर्क सिखाता है अपना घर भरना, दूसरे को धोखा देना। यह उसके लिए असंभव नहीं है। ये सब बुद्धि की सीमा में आने वाले कार्य हैं। एक बुद्धिमान व्यक्ति, एक विद्वान् या न्यायशास्त्री ये सारे कार्य करते हैं तो आश्चर्य जैसा क्या है? एक व्यापारी यदि स्मगलिंग करता है, मिलावट करता है, एक राज्य-कर्मचारी यदि रिश्वत लेता है तो हम बुरा मानते हैं। पर बुरा क्यों? उन्हें जो अनुशासन मिला है, उसकी सीमा में ये सारे कार्य वैध माने जाते हैं, अवैध नहीं माने जाते। इनका आधार है उपयोगिता। उपयोगिता होती है तो स्त्रियों को आबादी बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है और अनेक बच्चों की मां को पारितोषिक दिया जाता है। उपयोगिता न हो तो नियंत्रण की बात आ जाती है। उपयोगिता के आधार पर समाज ऐसी बात भी

सोच लेता है कि समाज से बूढ़ों को समाप्त कर दिया जाए। ये सारी बातें बुद्धि की सीमा में विहित हैं, अविहित नहीं हैं। फिर आश्चर्य कैसा ?

आश्चर्य का स्वर आता है दूसरे तट से। हम दूसरे तट पर खड़े होकर ऐसी बात करते हैं। यह भी बहुत बड़ा आश्चर्य है। यह सारा हमारा भावपक्ष है। एक व्यक्ति क्रोधी है, एक अभिमानी है। एक व्यक्ति हीनभावना से ग्रस्त है और एक व्यक्ति अहं से ग्रस्त है। एक व्यक्ति कायर है और एक व्यक्ति साहसिक है। एक लड़ाकू है। ये जितने भी आवेग हैं, ये जितनी भी तरंगें हैं, ये उस तट को छूकर आ रही हैं। एक अविकसित बालक भी इन भाव-तरंगों से प्रभावित हो जाता है।

छोटी बच्ची घर जल्दी आ गई। मां ने पूछाह 'अरे, इतनी जल्दी कैसे आ गई? अभी तो छुट्टी का समय नहीं हुआ है?' बच्ची ने कहाह 'मम्मी! मैंने राखी को पीटा था, अतः दीदी ने मुझे स्कूल से निकाल दिया।' मां ने पूछाह 'तूने राखी को क्यों पीटा?' वह बोलीह 'मां! मुझे घर जल्दी आना था।'

छोटा बच्चा भी भाव से प्रभावित हो जाता है। वह भावना से परे नहीं जा सकता। मन की चंचलता, बुद्धि के गलत निर्णय, इन्द्रियों की चंचलताहये सारे अपने आप में दोषी नहीं हैं। इसमें न मन का दोष है, न बुद्धि का दोष है और न इन्द्रियों का दोष है। इनका दोष भी नहीं है, अदोष भी नहीं है। जितने दोष या अदोष, बुराई और अच्छाई आती है वह उस तट से आती है। अच्छाई भी आती है तो उस तट से आती है और बुराई भी आती है तो उस तट से आती है।

आज की शिक्षा का लंगड़ापन यह है कि हम इस तट के बारे में खूब जानते हैं, किन्तु उस तट के बारे में नहीं जानते जहां से ये सारी विकृतियां, ये सारे दोष आ रहे हैं। संभवतः शिक्षाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारी शिक्षा अध्यात्म से जुड़े, ध्यान से जुड़े। वे अपनी सीमा बनाकर बैठे हैं। वे यह मान बैठे हैं कि हमारा पूरा उपक्रम दृश्य जगत् के लिए हो सकता है। अदृश्य जगत् हमारा विषय नहीं है, हमारी शिक्षा का क्षेत्र नहीं है, शिक्षा की सीमा में नहीं है। इसलिए यह कभी भी सरकारी पाठ्यक्रम, में नहीं जुड़ सकता। आयोग के अनेक सदस्यों से बातचीत करने पर यह प्रतीत हुआ कि उन्होंने शिक्षा की जो एक सीमा बना रखी है, उससे परे जाने के लिए वे तैयार नहीं हैं और यह उनके लिए अस्वाभाविक भी नहीं है। अब क्यों करें? कैसे इस बीमारी को मिटाएं? इस ज्वलंत समस्या का समाधान कैसे ढूंढें?

क्या जीवन की यह विकृति वैसे ही पनपती रहे? क्या हम सदा दूसरों पर आरोप लगाते ही रहें?

जज ने अपराधी से कहाह 'देखो, मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि अब तुम्हें मेरी अदालत में देखना नहीं चाहता। फिर भी आज तुम आ गए?' अपराधी बोलाह 'हुजूर! इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है। मैंने सिपाहियों से कहा था कि मुझे मत पकड़ो, वहां मत ले चलो। जज साहब ने मनाही की है। पर वे माने ही नहीं। मुझे पकड़ कर यहां ले आए। मैं क्या करूं?'

अपराधी अपराध करता चला जाता है। वह अपराध छोड़ना भी नहीं चाहता और कटघरे में खड़ा होना भी नहीं चाहता। इसी प्रकार आज आदमी की ऐसी मनोवृत्ति हो गई कि जीवन में विकार आते हैं पर वह उन विकारों के प्रतिकार की बात नहीं सोचता और सुधार की बात करता चला जाता है। यह मनोवृत्ति जब तक चलेगी तब तक सुधार नहीं होगा, समस्या का समाधान नहीं होगा।

मैं यह कहना चाहता हूं कि हमारे विद्यापीठ, शैक्षणिक संस्थान इस बात पर ध्यान दें या न दें किन्तु विद्यापीठ से निकलकर संघर्षमय सामाजिक जीवन में जीने वाले प्रत्येक विद्यार्थी की यह दृष्टि निर्मित होनी चाहिए। उसे ऐसा सोचना चाहिए कि विद्यापीठ में जो कुछ मैंने सीखा है, वह अधूरा है। जब तक मैं जीवन विज्ञान की शिक्षा नहीं पा लूंगा तब तक सुख-चैन से नहीं जी सकूंगा।

एक दिन मेरे पास कुछ स्त्रियां और कुछ पुरुष सत्संग करने आए। वे सब संपन्न घरों से थे। उनके पास साधनों की कमी नहीं थी। फिर भी वे सब दुःखी थे, मानसिक उलझनों से पीड़ित थे। दिन रात बेचैन रहते। नींद भी पूरा नहीं आती, सब दुःखी थे। मैंने सोचा, क्या वही बात नहीं हो रही है कि जो मूल है वह तो लुप्त हो रहा है और साधनों का अंबार लगाया जा रहा है? जिसके लिए ये साधन हैं, वह स्वयं पीड़ित है, दुःखी है, फिर ये साधन किसके काम आएंगे? इनसे थोड़ी मानसिक तुष्टि अवश्य मिलती होगी, पर वेदना इतनी प्रबल होती है कि वह मानसिक तुष्टि को लील जाती है।

इन सारे संदर्भों का फलित यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य है। यदि सरकार जीवन विज्ञान की शिक्षा न दे सके तो व्यक्ति स्वतंत्र है। उसमें निर्णय करने की क्षमता है। वह अपने हित-अहित को जानता-समझता है। वह यह भी जानता है कि मैं अपने भाग्य का निर्माता हूं। मैं अपने भाग्य की संरचना कर सकता हूं। मैं अपने भाग्य को

बदल सकता हूँ। मैं किसी के हाथ की कठपुतली नहीं हूँ। मेरी स्वतंत्र सत्ता है। मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है। मेरा पुरुषार्थ और पराक्रम भाग्य की खींची हुई लकीरों को मिटा सकता है और नई लकीरें खींच सकता है।

जब हमारे में इतना सामर्थ्य है तो हम कैसे उपेक्षा कर सकते हैं? जीवन विज्ञान की इस चर्चा से हमारे हाथ में जीवन का मूल सूत्र आ जाए। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि विद्यापीठ में हम पचास प्रतिशत शिक्षा पाते हैं और पचास प्रतिशत शिक्षा हमें अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मानुशासन को प्राप्त करनी है। मैंने यह अनुपात जरूरी बताया है, पर यथार्थ में निन्यानवे प्रतिशत शिक्षा आत्मानुशासन को विकसित करने को होनी चाहिए और एक प्रतिशत शिक्षा बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए होनी चाहिए।

इस प्रसंग में मैं श्रीमज्जयाचार्य के शब्दों को उद्धृत करना चाहता हूँ। वे एक महान् योगी, अनुशास्ता, कवि, मनीषी और धर्मनिता थे। उन्होंने लिखा है—‘जिसका स्वभाव और प्रकृति अच्छी होती है, जो आत्मानुशासी होता है, जो अपने आवेगों, आवेशों, वासनाओं और कामनाओं पर नियंत्रण कर सकता है, जो अपनी आकांक्षाओं का प्रतिरोध कर सकता है, उन पर अनुशासन कर सकता है, पर पढ़ा-लिखा नहीं है तो उस व्यक्ति की नौली में निन्यानवे रुपये हैं, एक रुपया मात्र खाली है।’

‘जो व्यक्ति अपने पर अनुशासन नहीं कर सकता, अपनी प्रकृति का स्वामी नहीं है; अपने आवेगों और आवेशों पर नियंत्रण नहीं रख सकता पर लढ़ा-लिखा है तो उसकी नौली में केवल एक रुपया है, वह निन्यानवे रुपयों से खाली है।’ कितना सुन्दर रूपक है!

जिस व्यक्ति ने अपने आपको नहीं संवारा, नहीं सजाया, उसकी थैली खाली है, वह स्वयं रिक्त है, फिर चाहे वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता हो जाए, निष्णात हो जाए। ऐसा व्यक्ति परिवार, समाज और संसार के लिए कांटा ही बना रहेगा। आज के बड़े-बड़े राजनेता और वैज्ञानिक संसार के लिए कांटे बने हुए हैं, एक भयंकर खतरा पैदा किए हुए हैं, इसीलिए कि वे सब दुनिया को नष्ट करने वाली सामग्री का अंबार लगाने में जुटे हैं। ऐसा पागलपन अतीत में कभी नहीं हुआ होगा। आज जीवन और मृत्यु में कोई दूरी नहीं रह गई है। किस क्षण क्या हो जाए, कोई निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता। विनाश की सामग्री जुटाने वाले और जिसको लक्ष्य कर सामागी जुटाई जा रही है, वे दोनों विनाश के कगार पर खड़े हैं। कोई सुरक्षित नहीं है।

क्यों आता है ऐसा पागलपन? यह पागलपन आता है आत्मानुशासन के अभाव में।

आत्मानुशासन का मूल्य सर्वोपरि है। आत्मानुशासन ध्यान के अभ्यास के बिना नहीं आता।

धर्म को मानने वाला या धर्म को नहीं मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि शांतिपूर्ण जीवन या सुखी जीवन की प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होती जब तक आत्मानुशासन का पाठ पूरा नहीं पढ़ लिया जाता। क्या यह संभव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने बाल-बच्चों को, मित्रों को और सगे-संबंधियों को यह बात समझाए कि जो विद्याएं हमने विद्यापीठों में पाई हैं वे सारी वस्तु-जगत् की विद्याएं हैं। वस्तु-जगत् की शिक्षा सदा अधूरी होती है। उसमें पूर्णता तब आएगी जब आदमी चेतन जगत् की विद्या को सीखेगा। यदि यह बात पूर्णरूप में समझ में आ जाए तो विद्यालयों में अनावश्यक भीड़ नहीं होगी और धर्मस्थान सूने नहीं रहेंगे।

आज यह सामान्य रूप में कहा जाने लगा है कि आदमी के मन में धर्म के प्रति भावना नहीं रही। यह प्रश्नचिह्न नहीं, एक स्वाभाविक बात है और इसलिए है कि धर्म के संस्थानों द्वारा जो देना चाहिए था, वह नहीं दिया जा रहा है। उन्हें प्रकाश देना चाहिए था, पर वह नहीं मिल रहा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रकाश देने वाला भी अंधकार उगलने लग जाता है। आज धर्म का संस्थान अंधकार दे रहा है। वह अंधकार बिखेरने के लिए नहीं है। वह प्रकाश देने वाला है। वह प्रकाश-स्तंभ बने और अध्यात्म का विकिरण करे। धर्म का संस्थान अध्यात्म और ध्यान का संस्थान बन जाये। वह हमारे आन्तरिक हेतुओं, कारणों, रसायनों और भावों को जो हमें प्रमत्त कर रहे हैं, बदलने वाला बन जाए। इस प्रकार शिक्षण-संस्थान आदमी को शिक्षित करने का पचास प्रतिशत कार्य करेंगे और शेष पचास प्रतिशत कार्य करेंगे धर्म-संस्थान। दोनों के मिले-जुले प्रयत्न से एक अद्भुत व्यक्तित्व का निर्माण होगा। परन्तु धर्म के संस्थान यह दायित्व पायेंगे, यह कल्पना भी कुछ दुरूह लगती है। आज के धर्म-संस्थानों के व्यक्तियों का यही चिन्तन है कि धार्मिक उपदेश दे देना, धार्मिक चर्चाएं कर लेना, व्याख्यान दे देना आदि-आदि ही उनके कार्य हैं। किन्तु अध्यात्म को जगाने के लिए जितनी गहरी निष्ठा, जितनी तीव्र साधना, त्याग और तपस्या चाहिए तथा जितने शक्तिशाली उपक्रम चाहिए, वे नहीं होते हैं तो धर्म का संस्थान भी वैसा नहीं कर पाते और आज सचमुच धर्म के संस्थानों में वैसा नहीं हो रहा है।

शिक्षा-क्षेत्र की अनेक समस्याएं हैं। उनका चिन्तन हमने किया है और समाधान के रूप में एक तथ्य निश्चित रूप से उभर कर आता है कि प्रत्येक शिक्षार्थी युवक अपनी विश्वविद्यालयी शिक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् पी.एच.डी. आदि के उपक्रम कर लेने के पश्चात् एक वर्ष का पूरा समय अपने जीवन को समझने के लिए लगाए, अपने आत्मानुशासन के विकास के लिए लगाए। यदि प्रत्येक विद्यार्थी में यह भावना बलवती बन जाए और इसका पूरा चित्र समाज के सामने प्रस्तुत हो जाए तो यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि सरकार शिक्षा की जिस जटिल पहेली का समाधान नहीं कर सकती, अनुशासन की प्रतिष्ठापना नहीं कर सकती, उसको समाज अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से सुलझा देगा, अनुशासन की प्रतिष्ठा करेगा और यह धार्मिक जगत् का बहुत बड़ा अवदान होगा।

जीवन विज्ञान की शिक्षा क्यों? (१)

अध्यात्म की शिक्षा आवश्यक है, पर निर्विवाद नहीं। बहुत लोग इसे आवश्यक नहीं मानते। एक प्रश्न सदा उपस्थित होता है कि मनुष्य को चाहिए वह सब हमारी विद्यालयी शिक्षा से मिल जाता है फिर यह धर्म की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा या अध्यात्म की शिक्षा का भार और क्यों लादा जाए?

इस तर्क के आधार पर हमेशा अध्यात्म की शिक्षाओं को उपेक्षित किया गया। हमारी भूल वहां होती है जहां हम सम्प्रदाय और धर्म को, सम्प्रदाय और अध्यात्म को एक ही अर्थ में स्वीकार कर लेते हैं। तर्क से कोई न भी माने किन्तु व्यवहार में कुछ ऐसा ही चल रहा है कि हमारी दृष्टि में धर्म या अध्यात्म सम्प्रदाय से भिन्न नहीं है।

मैं जो चर्चा कर रहा हूँ वह किसी सम्प्रदाय की चर्चा नहीं है और किसी धर्म की रूढ़ आचार-संहिता की भी चर्चा नहीं है। वह शुद्ध आध्यात्मिक चर्चा है। अध्यात्म की भूमिका में सबके समान सूत्र है। हम आत्मानुभूति की बात छोड़ दें। बहुत परोक्ष की बात है आत्मा तक पहुंचना। इतना सूक्ष्म सत्य है कि उस तक पहुंचने के लिए बहुत पैनी दृष्टि चाहिए। हम उसकी चर्चा न करें। यदि आत्मा की चर्चा शुरू हो गई, परमात्मा की चर्चा शुरू हो गई और उसमें उलझ गए, तो फिर साधना तो स्वयं समाप्त है। साधना का 'अथ' ही नहीं, पहले ही 'इति' हो जाएगी। काम प्रारंभ ही नहीं होगा। हम चर्चा में न उलझें। जो हमारे सामने है स्पष्ट, उसके आधार पर चलें। अध्यात्म का अर्थ है ह्यराग-द्वेष-मुक्त चेतना। चेतना हमारे सामने है। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान की चेतना को स्वीकारता है। प्रश्न होता है ह्यअतीत की चेतना थी या नहीं? भविष्य में होगी या नहीं? इन दोनों बातों को एक बार छोड़ दें, किन्तु जो वर्तमान की चेतना है वह राग-द्वेष से मुक्त रहे, यह अध्यात्म है। अध्यात्म का अर्थ है ह्यप्रियता और अप्रियता के संवेदन से हटकर समता का अनुभव करना। सामान्यतः हम या तो किसी घटना को प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या किसी घटना को अप्रियता की दृष्टि से देखते

हैं। हमारा पक्षपात सदा होता है। जो लोग बहुत निष्पक्षता और तटस्थता की बात करते हैं, वे भी पक्षपात से ग्रस्त हैं। कोई भी पक्षपात से मुक्त नहीं है। मुक्त होगा भी कैसे? जब तक झुकाव है, आकर्षण है, विकर्षण है, प्रियता है, अप्रियता है, राग है, द्वेष है, तब तक कोई पक्षपात से मुक्त नहीं हो सकता। मात्रा का अन्तर हो सकता है। कोई व्यक्ति शत-प्रतिशत पक्षपात से ग्रस्त हो सकता है, कोई अस्सी प्रतिशत और कोई साठ प्रतिशत ग्रस्त हो सकता है। लेकिन कोई सर्वथा पक्षपात से मुक्त हो नहीं सकता। इस स्थिति में हम निष्पक्षता की बात नहीं सोच सकते।

हमारा सारा व्यवहार झुकाव के आधार पर चलता है। अध्यात्म कहाँ से होगा? अध्यात्म की अनुभूति तब होगी, जब हम प्रयोग करें। एक दिन का प्रयोग करें। एक दिन में कुछ घटनाओं का प्रयोग करें। सारी घटनाओं के बारे में कहना कठिन है पर कुछ घटनाओं के बारे में कहा जा सकता है। कोई घटना घटी, उसमें प्रियता और अप्रियता की दृष्टि रही या समता की दृष्टि? उस घटना को प्रिय-अप्रिय संवेदन के आधार पर देखा या उनसे मुक्त होकर देखा? यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, अध्यात्म की चेतना है।

व्यवहार में चलने वाला आदमी व्यवहार को ज्यादा मूल्य देता है। इसलिए उसकी शिक्षा भी व्यवहार पर आधारित है। जब रोटी की पूरी व्यवस्था हो जाती है और बौद्धिक विकास की पूरी तैयारी हो जाती है तब शिक्षा की संपूर्ति मान ली जाती है।

अध्यात्म के लोग उस शिक्षा को पूरा नहीं मानते, अपर्याप्त मानते हैं। इसका कारण क्या है? क्या वे लोक-विरुद्ध बात कहने में ही रस लेते हैं कि लोग जिसे पूरी शिक्षा मानते हैं, लोकोत्तर के व्यक्ति उसे अधूरी शिक्षा मानें? क्या यह उनकी दृष्टि का भ्रम है या उसमें सचाई भी है? जीवन विज्ञान की शिक्षा को अध्यात्म की शिक्षा के साथ जोड़ने का अर्थ क्या है? कोई प्रयोजन है तो वह हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिए। प्रयोजन के संदर्भ में एक तथ्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

समाज में सदा निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा रहती है। जहाँ जहाँ शस्त्रीकरण होता है वहाँ खतरे बढ़ते हैं, भय बढ़ता है, यह सारा भय शस्त्रों का भय है। यदि शस्त्र न हों तो दुनिया में कोई भय नहीं। भयभीत मनुष्य ने शस्त्र का आविष्कार किया और शस्त्र ने मनुष्य को सदा भयभीत बनाए रखा। समाज सदा इस बात की अपेक्षा रखता है कि निःशस्त्रीकरण हो। आज का यह प्रबल स्वर है कि निःशस्त्रीकरण हो। अनेक राष्ट्रों ने मिलकर

प्रत्यन किया। अनेक संधियां हुईं। पर अभी पूरा हो नहीं सका, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि मनुष्य सदा निःशस्त्रीकरण चाहता है, शस्त्रीकरण नहीं चाहता, शस्त्रों को नहीं चाहता, डराने वाले हथियारों को नहीं चाहता। वह चाहता है कि कोई डराने वाला व्यक्ति भी न हो और डराने वाले साधन भी न हों। पूरा अभय का वातावरण हो। हर व्यक्ति भय-मुक्त होना चाहता है, किन्तु शस्त्रों की दुनिया में कोई भय-मुक्त नहीं होता। हो भी नहीं सकता। कैसे हो? निःशस्त्रीकरण की जरूरत है। किसलिए? केवल राष्ट्र के लिए नहीं, केवल समाज के लिए नहीं। सबसे पहले सुखी परिवार के लिए। परिवार में आदमी सुखी रह सके। आपके मन में प्रश्न खड़ा होगा कि परिवारों में कौन-से शस्त्रों का प्रयोग होता है? कोई शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। बहुत सारे परिवार तो शस्त्र रखते ही नहीं हैं और रखते हैं तो अपनी आत्म-रक्षा के लिए रखते हैं। अपने पारिवारिकजनों के प्रति शस्त्र का प्रयोग करने के लिए शस्त्र नहीं रखते हैं। यहां मैं आपकी बात से सहमत नहीं हो सकता। यदि हम गहरे में जाएंगे तो पता चलेगा कि वास्तव में शस्त्र क्या है? हमने व्यवहार के धरातल पर बंदूक, तलवार, तोपें और प्रक्षेपास्त्र आदि आधुनिक शस्त्रों को शस्त्र मान रखा है, किन्तु अध्यात्म की भाषा में शस्त्र दूसरा ही है। स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के शस्त्रों का वर्गीकरण किया है। उनमें नमक भी एक शस्त्र है। अग्नि एक शस्त्र है, जहर एक शस्त्र है। शस्त्र का मतलब हैहमारे डालने वाला। जो मार डालता है वह सब शस्त्र है। क्या कोई दुनिया में ऐसी चीज है जो आदमी को न मारे? प्राणी को न मार? एक भी वस्तु का नाम आप बताएं कि जो आदमी को न मारे? प्राणी को न मारे? खोजने पर भी नहीं मिलेगा। एक चींटी भी आदमी को मार डालती है। एक छोटा-सा रजकण आदमी को मार डालता है। एक वायरस, एक जर्म, एक कीटाणु आदमी को मार डालता है। बहुत बार तो जिन पदार्थों को हम अपनी रक्षा का साधन समझते हैं वे साधन आदमी को ही मार डालते हैं, आत्मघाती बन जाते हैं। कोई भी ऐसा नहीं, जो शस्त्र न हो। नमक भी शस्त्र है। नमक इतना तेज शस्त्र है कि वह सब कुछ गला देता है, कण-कण को गला देता है। बहुत नमक खाने वाले भी यह अनुभव करते हैं कि नमक कितना तेज शस्त्र है। ज्यादा नमक खाने वाले का गुर्दा बता देता है कि नमक कितना तेज शस्त्र है। ज्यादा नमक खाने वाले को बी.पी बता देता है कि नमक कितना बड़ा शस्त्र है, मार डालने वाला शस्त्र है। चीनी भी शस्त्र है। वह मीठा जहर है। चिकनाई भी शस्त्र है। घी और तेल भी शस्त्र है। थोड़ी-सी हार्ट-ट्रबल होती है

तो डाक्टर कहता है, पहले चिकनाई बन्द करो। यदि अमृत हो तो बन्द किसलिए? पुराने लोगों ने घी को रत्न माना है। घी एक रत्न है, पर आज की भाषा हैह्वघी अनावश्यक है। यह निश्चित है कि घी भी शस्त्र बनता है, तेल भी शस्त्र बनता है।

यह सचाई है कि अकाल-मृत्यु में केवल तलवार, बन्दूक या तोप का ही हाथ नहीं होता, किन्तु चीनी, घी या ज्यादा गरिष्ठ मिठाइयों का भी हाथ होता है। आदमी सौ वर्ष जीना चाहता है या सौ वर्ष जीता है, यदि इनका प्रयोग खूब चलेगा तो संभव है पचास वर्ष भी न जाए। ये शस्त्र तो हैं ही, मारते भी हैं पर मारते इतने मिठास के साथ हैं कि पता ही नहीं चलता। मारने-मारने में भी अन्तर होता है। एक मारता है कड़वाहट के साथ और एक मारता है मिठास के साथ, मधुरता और प्रियता के साथ। प्रत्येक पदार्थ दुनिया में शस्त्र बना हुआ है, अशस्त्र कुछ भी नहीं है।

लोगों में शस्त्र के प्रति एक प्रकार की अवधारणा है और दूसरे प्रकार की गहरी अवधारणा है अध्यात्म की। हमारी शरीर, वाणी और मनह्वये दुष्प्रयुक्त होते हैं तो शस्त्र हैं। दुष्प्रयुक्त मन एक शस्त्र है। दूसरा शस्त्र हैह्वभाव, हमारे मन के भाव। पूरा भाव-तंत्र एक शस्त्र है। तीसरी बात है अविरति। आकांक्षा एक शस्त्र है।

शस्त्र दो श्रेणियों में बंट जाते हैंह्वपदार्थ-शस्त्र और मनुष्य की अन्तर वृत्तियों का शस्त्र। शरीर हमारा शस्त्र है। क्या परिवार में शरीर नहीं है? क्या परिवार में वाणी नहीं है? क्या मन नहीं है? ये सब शस्त्र हैं। जितनी लड़ाइयां बंदूकें, तलवारों और तोपों से नहीं लड़ी जातीं, उतनी लड़ाइयां हमारे मन, वचन और शरीर से लड़ी जाती हैं। कौन व्यक्ति ऐसा है जो दिन में एक-दो लड़ाई नहीं लड़ लेता हो? स्वयं लड़ लेते हैं और कई लोग तो लड़ाई को उधार लेना भी पंसद करते हैं। जहां भी पता चले लड़ाई की संभावना है, शायद तीसरे गांव भी वे पहुंच जाते हैं।

कौन नहीं लड़ता? एक अंगुली का इशारा होता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। जबान ऐसी निकलती है, लड़ाई शुरू हो जाती है। मन में चिंतन ऐसा आता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। राग और द्वेष से भरा हुआ मन का चिंतन सबसे बड़ा शस्त्र है।

साधुओं की एक जमात आई। भोजन की व्यवस्था गांव वालों को करनी थी। पुराने जमाने में ऐसा चलता था। भोजन की व्यवस्था के लिए कहा गया। गांव वालों ने सोचाह्वसंन्यासी आ गए हैं। व्यवस्था करनी है, तैयारी

करनी शुरू कर दी। तैयारी करने में थोड़ी देरी हो गई। संन्यासी भूखे बैठे-बैठे तंग हो गए। आए गुरु के पास, आकर बोलेह 'क्या करें? अभी भोजन नहीं आया। लगता है कि गांव वाले व्यवस्था करना नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि उनको भी सबक सिखाएं। जाएं और उनके छप्पर तोड़ डालें।' आ गए, छप्पर तोड़ने लगे। गांव के लोगों ने कहाह 'यह क्या कर रहे हो?' संन्यासी बोलेह 'तुम लोगों ने हमारे भोजन की व्यवस्था नहीं की?' वे बोलेह 'महाराज! व्यवस्था कर रहे हैं, व्यवस्था करने में थोड़ा समय लगता है, इतनी जल्दी क्यों करते हैं आप? क्या आपने गुरु से पूछ लिया, जो आप ऐसा कर रहे हैं?' संन्यासी बोलाह 'हां!' वे बोलेह 'गुरु ने आपको क्या कहा?' संन्यासी बोलेह 'कहा कुछ भी नहीं। हमने जाकर गुरु से कहाह 'हम छप्पर तोड़ते हैं' तो गुरु ने कहाह 'हूं। बस, अंगुलियां हिल गईं। सिर हिल गया। मौन हैं, वैसे तो बोलेंगे नहीं।'

एक अंगुली हिलती है, थोड़ा-सा सिर हिलता है, छप्पर टूट जाते हैं। क्या शस्त्र नहीं है शरीर का दुष्प्रयोग, वाणी का दुष्प्रयोग? बहुत बड़ा शस्त्र बन जाता है, बनता है, और है। जितनी लड़ाइयां वाणी के कारण होती हैं। वे सब अकारण लड़ाइयां हैं। उनके पीछे कोई कारण नहीं होता किन्तु वचन के कारण लड़ाई शुरू हो जाती है।

दो लड़कियां मिली परस्पर रास्ते में। एक ने कहाह 'आ बहन लड़ें। लड़ने की भी मन में आती है। दूसरी बोलीह 'मैं क्यों लड़ूं, लड़े तेरी जूती। मेरी जूती क्यों लड़े, लड़े तुम्हारी जूती। जूती-जूती रटते-रटते जूतियां निकल गईं और दोनों आपस में लड़ पड़ी।

बहुत सारी लड़ाइयां वाणी के कारण होती हैं। हमें बोलने का विवेक नहीं होता, हम नहीं जानते कि हमें किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। थोड़ी-सी बात होती है, तन जाते हैं। पिता पुत्र को कहता है, पर न पिता पूरी वात्सल्य के साथ कहता है और न पुत्र विनय के साथ सुनता है, क्योंकि वात्सल्य करना भी नहीं जानते और विनय करना भी नहीं जानते। इसलिए नहीं जानते कि मन में इतने तेज शस्त्र भरे पड़े हैं। प्रियता, विनम्रता और वात्सल्यहृदये सारे गुण उन शस्त्रों से छिद जाते हैं।

वाणी, शरीर और मन का दुष्प्रयोग सारी लड़ाइयों को पैदा करता है। क्या आप सोचते हैं कि महायुद्ध होते हैं, वे बहुत बड़े कारणों से होते हैं? अगर ऐसा सोचते हैं तो सोचना भ्रान्त होगा। आज तक के पूरे विश्व के इतिहास को उठाकर देखें, जितने महायुद्ध हुए हैं, जितनी बड़ी लड़ाइयां हुई हैं,

वे बहुत छोटी बातों को लेकर हुई हैं। बड़ी बात इतनी साफ होती है कि उसको लेकर लड़ाई लड़ने की बहुत जरूरत नहीं पड़ती। बहुत छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ाइयां हुई हैं और पुराने जमाने में तो निश्चित ही ऐसा होता था। एक राजा दूसरे राजा को कोई एक अपशब्द कह देता, बस, उसे सहन नहीं होता, तत्काल चढ़ाई हो जाती।

‘भाव’ एक बहुत बड़ा शस्त्र है। लड़ाइयां भाव में ही पैदा होती हैं। भाव में से उतर कर मन में आती हैं, मन की वाणी में और फिर शरीर में आती हैं। सारे शस्त्रों का केन्द्रीय-स्थल है प्राणी का भाव। हमारा भाव-संस्थान मन एवं विचारों को प्रभावित करता है, हमारी धारणाओं और मान्यताओं को प्रभावित करता है।

एक धनुर्धर था, बहुत कुशल। बाण चलाने में इतना निपुण, धनुर्विद्या में इतना दक्ष कि बाण फेंकता तो कोई निशाना खाली नहीं जाता। यदि एक साथ एक पेड़ से सौ पत्तों को बींधना हो तो उसका बाण पत्तों को बींधता हुआ चला जाता है। इतना कुशल! राजा ने उसे मान्यता दी। उसके प्रदर्शन पर राजा आश्चर्यचकित था, मुग्ध था और वह उसका बहुत प्रशंसक बन गया। एक दिन राजा ने कहा कि ‘तुम मेरे राज्य के सबसे बड़े धनुर्धर हो। अब तुम्हें यह घोषणा कर देनी चाहिए कि मैं इस राज्य का सबसे बड़ा धनुर्धर और धनुर्विद्या का विशेषज्ञ हूँ।’ उसने कहा कि ‘बहुत अच्छी बात है आपकी कृपा हो तो।’ राजा की और उसकी बात हो रही थी। जो प्रहरी पास में खड़ा था, वह हंस पड़ा। धनुर्धर ने देख लिया। उसने कहा कि ‘भाई! तू क्यों हंसा? तुझे हंसी क्यों आई?’

‘ऐसे ही आ गई।’

‘ऐसे ही क्यों आई? सच बताओ, हंसी क्यों आई?’

उसने कहा कि ‘तुम पूछना चाहते हो?’

‘हां! बिलकुल।’

‘क्या बताऊं, धनुष्य विद्या का तुमने ‘क’ ‘ख’ तो सीखा नहीं और सारे राज्य के धनुर्धारी बन गये, यह कैसे?’

उसके अहं का सारा पारा नीचे उतर गया। जो अहंकार छाया हुआ था वह सारा पिघल कर बह गया। उसने पूछा कि ‘क्या मैं धनुर्धारी नहीं हूँ? कैसे कहा तुमने?’

उसने कहा कि ‘दुनिया बहुत बड़ी है। हमारी दुनिया में रत्न छिपे पड़े हैं, ‘बहुरत्न वसुन्धरा।’ कोई रत्न बाहर निकल कर आ गया, जौहरी के हाथ लग

गया और मानते हैं कि सबसे बड़ा रत्न मिल गया। न जाने इस पृथ्वी के गर्भ में कितने रत्न छिपे पड़े हैं? आपको पता ही न हो तो क्या?’

‘मुझे बड़ा कोई धनुर्धर है?’

‘हां, निश्चित है।’

‘कौन?’

‘अमुक गांव में जाओ, वहां एक लकड़हारा है। वह लकड़ियां बेचता है। वह सबसे बड़ा धनुर्धारी है।’

जाना पड़ा। गया। मिला। मिलकर अपनी आप बीती सुनाई और बोलाह ‘मैं आपकी धनुर्विद्या देखना चाहता हूं।’ उसने अपनी विद्या बताई, प्रयोग बताए। वह देखकर अवाक् रह गया। उसने सोचा, मैंने तो कुछ भी नहीं पाया। इसके सामने तो कुछ भी नहीं मैं। सचमुच उसे सचाई का भान हो गया। उसके पास पढ़ा, कुछ सीखा, जाने लगा। मन में सोचा, मुझे इस राज्य का सबसे बड़ा धनुर्धर बनना है और जब तक यह व्यक्ति रहेगा तब तक तो बन नहीं सकता। इसे समाप्त कर देना चाहिए। वह उसे मारने की योजना बनाने लगा।

यह कोई नई बात नहीं, आश्चर्य की बात नहीं। कौन व्यक्ति इस भाषा में नहीं सोचता होगा। जिसके मन में अतृप्ति हो जाती है कि मुझे सबसे बड़ा बनना है, वह अपने सामने व अपने रास्ते में आने वाले हर रोड़े को मिटाने की बात सोचता है।

एक दिन लकड़हारा जंगल में लकड़ी लेकर आ रहा था। उसके पास तो लकड़ी का भार था और धनुर्धर पूरा सजा हुआ था, पास में धनुष-बाण था। जैसे ही उसको देखा, उसने तीर छोड़ा। लकड़हारे ने उसे तीर छोड़ते देख लिया। तत्काल उसने भारे से एक छोटी लकड़ी निकाली। जैसे ही तीर आया, लकड़ी का प्रहार किया कि तीर टूट कर वहीं चूर-चूर हो गया। वह देखता रह गया। अरे! यह तो गजब का आदमी है। इतने तेज बाण को इसने छोटी-सी लकड़ी से निरस्त कर दिया। वह उसके पैरों में गिरकर बोलाह ‘मैंने बड़ा अपराध किया है।’ उसने कहाह ‘कोई अपराध नहीं। मैंने तुम्हें और सारी बातें बता दीं। सारे पाठ पढ़ा दिए, पर यह नहीं बताया कि एक छोटी-सी लकड़ी से बाण को कैसे व्यर्थ बनाया जा सकता है। यह पाठ पढ़ाना बाकी था, आज यह पाठ भी पढ़ा दिया।’

उसने मन में सोचा, मेरा बाण लगता तो पाठ पढ़ा दिया जाता। पर लगा ही नहीं। वह गिड़गिड़ाते हुए बोलाह ‘मैंने जो कुछ भी किया, आप महान्

हैं, उसे भूल जाएं। पर यह तो बताएं कि आपने यह विद्या कहां सीखी? आपके गुरु कौन हैं? क्या आपने सब कुछ गुरु से ले लिया?’

वह बोलाह ‘कुछ भी नहीं। मेरे गुरु की बात मत करो। वे इतने विचित्र हैं कि उन जैसा दुनिया में कोई धनुर्धर नहीं हो सकता।’

‘ओह! आश्चर्य! वह गुरु का पूरा अता-पता लेकर चला, गुरु के पास गया। जंगल में जाकर देखा, झोंपड़ी में एक बूढ़ा आदमी बैठा है। प्रणाम कर बोलाह ‘मैं आपसे धनुर्विद्या सीखना चाहता हूँ!’ बूढ़े ने पूछाह ‘क्या जानते हो? बताओ!’ उसने अपनी सारी विद्या बता दी, सारी कला बता दी। गुरु ने कहाह ‘अभी कुछ भी नहीं सीखा।’ उसने कहाह ‘यह कैसे? इतना सीख गया फिर भी आप कहते हैं, अभी कुछ भी नहीं सीखा है!’ बूढ़े ने कहाह ‘चलो, आओ मेरे साथ।’ गुरु आगे हो गया, वह पीछे हो गया। उसके हाथ में धनुष्य है, बाण है। गुरु के हाथ में कुछ भी नहीं। उसने सोचा, कहीं भूल तो नहीं गए हैं। पास आकर कान में बोलाह ‘गुरुदेव! आपके लिए भी धनुष्य लेना है? कहीं भूल तो नहीं गए हैं आप? गुरु ने कहाह ‘कोई जरूरत नहीं। तुम आ जाओ।’ वे दोनों एक पहाड़ पर चढ़े। पहाड़ का एक ऐसा शिलाखण्ड था जिसके नीचे सैकड़ों हाथ के गड्ढे थे और वह शिलाखंड उभरा हुआ तिरछा खड़ा था। शरीर से वृद्ध गुरु उस शिलाखंड की नोंक पर जाकर खड़ा हुआ। एक पैर नोंक पर रखा और एक पैर अधर में रखा। अगर थोड़ा-सा चूक जाए तो खड़के में जा गिरे। गिरे तो पता ही न चले कि कोई था या नहीं। इतना भयंकर स्थान! वहां जाकर खड़ा हुआ। वह तो कांपने लग गया। पता नहीं कब चूक जाए।’ गुरु ने कहाह ‘तू धनुर्विद्या को जानता ही नहीं। धनुर्विद्या को सीखने के लिए यह स्थान ही अच्छा स्थान है। यहां खड़े होकर ही धनुर्विद्या सीखी जा सकती है।’

गुरु ने पूछाह ‘धनुष्य किसलिए?’ उसने कहाह ‘दूसरों को मारने के लिए, दूसरों को गिराने के लिए।’ गुरु बोलाह ‘यही तो काम है धनुष्य का! अब देखो।’ गुरु खड़ा हो गया। आकाश में पक्षियों का झुंड उड़ता हुआ जा रहा था। गुरु ने आंखें ऊंची कर दीं। न हाथ में बाण, न धनुष्य। केवल आंख ऊंची कर दी। अपलक देखने लगा। अनिमेष, एकदृष्टि से देखने लगा। जैसे ही पक्षी रेंज में आये, वे सारे सामने आकर गिर गए। न बाण चलाने की जरूरत, न धनुष्य रखने की जरूरत।

बूढ़े ने कहाह ‘जो हाथ में धनुष्य रखता है वह सच्चा धनुर्धर नहीं होता। धनुर्विद्या का विशेषज्ञ वह होता है जो बिना धनुष्य के जो चाहे कर लेता है।’

यह है भाव-शस्त्र। भाव में जितनी ताकत होती है उतनी ताकत शायद अणुबम में भी नहीं होती होगी। एक बुरा भाव यदि अपनी शक्ति की सीमा को पार कर जाए तो न जाने कितने लोगों का अनिष्ट कर दे। हजारों, लाखों का ही नहीं, करोड़ों, अरबों का अनिष्ट कर सकता है। भाव बहुत बड़ा शस्त्र है। इसलिए जैन आचार्यों ने एक नियम बनाया कि किसी को साधना करनी है, अनिमेष ध्यान करना है तो हरियाली पर न किया जाए, यानि सचित्तहसजीव वस्तु पर न किया जाए। सचित्त वस्तु पर त्राटक होता है, वह उन जीवों को कष्ट में डाल देता है। उनमें कठिनाई पैदा हो जाती है। न पानी पर, न फूलों पर, न वनस्पति पर, न पेड़ों पर। हमारे भाव में बहुत बड़ी ताकत होती है, भाव बहुत बड़ा शस्त्र है।

शस्त्र है 'अविरति'हआकांक्षा। आकांक्षा बहुत बड़ा शस्त्र है। परिवार में जिस निःशस्त्रीकरण की जरूरत है, उसका प्रारंभ इस शस्त्र के वर्जन से होना चाहिए। बहुत सारी घटनाएं सामने आती हैं, परिवारों की, भाइयों की, पिता-पुत्र की, पति-पत्नी की, सचमुच हैरानी होती है, और एक ऐसी धारणा बन गई कि आकांक्षा, पैसा, धन इसके सिवाय दुनिया में कोई संबंध नहीं। इतनी आकांक्षा जागती है कि सारे संबंध गौण हो जाते हैं।

एक भाई ने बताया कि मैंने अपने भाइयों को पाला-पोसा, बड़ा किया, पढ़ाया। मैंने सोचाहअब समय आया, विश्राम करेंगे, भाई काम करेंगे, देख-रेख करूंगा और छुट्टी मिल जाएगी। वह तो सोच ही रहा था। इतने में भाइयों का स्वर आया कि हमें अलग कर दो। किसलिए? तुम्हारे परिवार ज्यादा है। बहुत खर्चा होता है। हम उसका भार क्यों वहन करेंगे? हम तो अलग होंगे। भाई का सपना अधूरा रह गया।

एक भाई ने बताया कि हम लोग सब साथ में थे। सब साथ में काम करते थे। बड़ा अच्छा हमारा काम चलता था। एक भाई के मन में आकांक्षा जाग गई कि मुझे धन का अधिक संग्रह करना है। उसने छिपे-छिपे संग्रह करना शुरू कर दिया। भाइयों का प्रेम और विश्वास टूट गया। यह स्थिति बन गई कि जो कुछ लेना है वह भी नहीं ले पाते, जो कुछ देना है वह भी नहीं दे पाते।

न जाने कितने ऐसी घटनाएं घटित होती होंगी! ये होती हैं अविरति के कारण। एक ओर पदार्थ के शस्त्र, दूसरी ओर हमारे भावात्मक शस्त्र। मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग, भाव और अविरतिहआकांक्षाहये तीन शस्त्र हैं। गणित की भाषा में सोचें तो पहला स्थान बंदूक, तोप और गोलों का नहीं

है। पहला स्थान है भाव का, मन, वचन और काया के दुष्प्रयोग का और आकांक्षा का। यह होता है तब पदार्थ के शस्त्र बनते हैं या पदार्थ ही शस्त्र बन जाता है।

बादशाह ने बीरबल से पूछाहसबसे बड़ा शस्त्र कौन-सा है? उत्तर मिलाह'अवसर!' बादशाह ने कहाह'तू बड़ी बेबुनियाद बात करता है। अवसर भी कोई शस्त्र होता है! कोई बंदूक बताता, तोप बताता, और कुछ बताता। अवसर क्या शस्त्र होता है?'

बीरबल बोलाह'बिलकुल ठीक कहता हूँ। अवसर से बड़ा कोई शस्त्र नहीं होता।' मौका मिल गया दूसरे ही दिन। दोनों जा रहे थे। हाथी पागल हो गया। दौड़ने लगा। जहां बादशाह और बीरबल खड़े थे, उधर आने लगा। बीरबल ने सोचा, मारे जाएंगे। कोई शस्त्र नहीं, कोई सुरक्षा करने वाला नहीं। क्या करें? सामने से एक कुत्ता दौड़ता आ रहा था। बीरबल ने कुत्ते की टांग पकड़ी, घुमाया और हाथ पर फेंका। हाथी के कुंभस्थल पर गहरी चोट लगी। वह दौड़कर चला गया। बादशाह ने कहाह'अरे, बीरबल! आज तूने बड़ा चमत्कार दिखाया।'

बीरबल बोलाह'जहांपनाह! आप भी समझ गये होंगे। कल मैंने कहा था कि सबसे बड़ा शस्त्र होता है अवसर। अवसर की बात थी। इस समय बंदूक, तलवार ढूंढने जाऊं तो कहां से आएगी। कुत्ता ही मेरे लिए शस्त्र बन गया।'

दुनिया में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो शस्त्र न बन सके। किन्तु वे पदार्थ शस्त्र तब बनते हैं, जब भीतर में प्रथम श्रेणी के शस्त्र सक्रिय होते हैं। जब तक प्रथम श्रेणी के शस्त्र सक्रिय नहीं होते, तब तक द्वितीय श्रेणी के शस्त्र सक्रिय नहीं होते। ये द्वितीय श्रेणी के शस्त्र तभी सक्रिय होते हैं जब हमारे प्रथम श्रेणी के शस्त्र काम करते हैं।

जीवन विज्ञान की शिक्षा इसलिए जरूरी है कि हम प्रथम श्रेणी के शस्त्रों का निःशस्त्रीकरण कर सकें। यह राजनेताओं की, राजनीति के मंच पर निःशस्त्रीकरण की होने वाली चर्चा कभी पूरी नहीं होती और इसलिए नहीं होती कि वे द्वितीय श्रेणी का काम करना चाहते हैं। जो बाद में करने का काम है वह पहले करना चाहते हैं। पहले करने का काम नहीं करना चाहते। जब तक पहले करने का काम नहीं किया जाता, तब तक बाद में करने का काम पूरा नहीं होता। बाद की बात तो बाद में सोचनी चाहिए।

हमारी पूरी शिक्षा की व्यवस्था में उन प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को मृदु

बनाने की, उनके जहर को समाप्त करने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसलिए अध्यात्म शिक्षा की जरूरत है जिससे कि हम प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को समाप्त कर सकें, निःशस्त्रीकरण कर सकें। वह नहीं होता है तब तक शस्त्र रखने वाला भी दुःख पाता है। आदमी किसी को पीट देता है, हाथ उठ जाता है तो मन में अनुताप होता है कि काम अच्छा नहीं किया। मैंने पीट दिया। हाथ का संयम नहीं रह सका। मन में बुरी कल्पना आती है, बुरा चिन्तन चलता है। मन में दुःख भी होता है कि मैंने इतनी बुरी बात क्यों सोची? शस्त्र का प्रयोग करने वाला, स्वयं दुःखी होता है और जिस पर शस्त्र का प्रयोग किया जाता है, वह भी दुःखी होता है। बुरा सोचने वाला भी दुःख पाता है क्योंकि वह बुरे परमाणुओं से घिर जाता है। जिसके बारे में सोचते हैं वह भी प्रभावित होता है, उस पर भी असर होता है। हम इन प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को समाप्त करना चाहते हैं तो अध्यात्म-शिक्षा के बिना, जीवन-विज्ञान के बिना हमारे सामने कोई भी दूसरा रास्ता नहीं है। हम बहुत बार भ्रांतियों में पलते हैं। बाहरी निमित्तों को मिटाना चाहते हैं, बाहरी उपकरणों को समाप्त करना चाहते हैं। वे बेचारे बुरे तब बनते हैं जब उन्हें हमारा योग मिलता है। हम उन्हें चार्ज करते हैं, तब वे चार्ज होते हैं अपने आपमें वे नेगेटिव हैं। उनमें कोई कर्तृत्व नहीं है, वह कर्तृत्व हमारे द्वारा आरोपित होता है। यदि शस्त्र में भी कोई क्षमता होती तो आज शस्त्रों का इतना बड़ा भण्डार है कि दुनिया एक क्षण के लिये चैन से नहीं बैठ सकती। पर वे द्वितीय श्रेणी के शस्त्र अणु-अस्त्र, हाइड्रोजन-अस्त्र, उनका भण्डार अभी निष्क्रिय पड़ा है और इसलिए पड़ा है कि प्रथम श्रेणी के शस्त्र पूरे टकराए नहीं। जिस दिन उनमें थोड़ा पागलपन आया और वह प्रथम श्रेणी का शस्त्र जैसे ही टकराया तो पता नहीं दुनिया में क्या होगा? कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। शायद भविष्यवाणी करने वाले भी बाद में मिलेंगे या नहीं। यह नहीं कहा जा सकता।

हम इस बात का अनुभव करें कि दुष्प्रयुक्त वाणी और दुष्प्रयुक्त शरीरहइन तीन शस्त्रों को समाप्त किए बिना परिवार में भी सुख से नहीं रह सकते, समाज में भी सुख से नहीं रह सकते और राष्ट्र में भी सुख से नहीं रह सकते। सुखी व शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए जरूरी है जीवन-विज्ञान की शिक्षा। उसके द्वारा वह शिक्षा पा सकें, जिससे हमारा भाव-शस्त्रहप्रथम श्रेणी का शस्त्र निष्क्रिय बने, हम मैत्री, शान्ति और सुख का जीवन जी सकें।

जीवन विज्ञान की शिक्षा क्यों? (२)

एक बुढ़िया जा रही थी। वह झुकी हुई थी। कुछ मनचले लोगों ने पूछ लिया 'बुढ़िया! क्या खोज रही हो?'

उसने कहा 'कुछ नहीं।'

'तो फिर इतनी झुकी हुई क्यों हो?'

बुढ़िया संभलकर बोली 'अरे, कुछ खोज रही हूं। जो खो दिया, उसे खोज रही हूं।'

'क्या खो दिया मां?'

बुढ़िया बोली 'बेटा! गतं तारुण्यमौक्तिकम्' हयौवन की मुक्ता खो गई, उसे खोज रही हूं, कहीं मिल जाए।'

आदमी झुका हुआ चल रहा है। केवल भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में आदमी झुका-झुका चल रहा है, कुछ खोज रहा है। उसे यदि पूछा जाए 'झुके हुए क्यों चल रहे हो? तुमने क्या खो दिया?' उत्तर मिलेगा 'अनुशासन की मुक्ता खो गई है। ढूंढ रहा हूं। कहीं मिल जाए।'

आज सारे संसार में समस्या है अनुशासन की। शिक्षा का उद्देश्य है अनुशासन पैदा करना। अनुशासन पैदा नहीं हो रहा है। हर जगह मांग है, कि अनुशासन आए, अनुशासन जागे। पर वह आ नहीं रहा है, जाग नहीं रहा है। प्रतीत होता है कि जो कुछ है वह जा रहा है, आ कुछ भी नहीं रहा है। ऐसा क्यों?

अनुशासन का मूल है आत्मानुशासन। शिक्षा का उद्देश्य है आत्मानुशासन पैदा करना। आज परानुशासन इतना अधिक विकसित हो गया है कि आत्मानुशासन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हो रही है। आत्मानुशासन व्यर्थ प्रतीत हो रहा है। धर्म के आचरण के लिए जब कभी किसी को कहा जाता है तब वह कहता है, अभी तो काम है, जब फुरसत मिलेगी तब धर्म करूंगा। बार-बार कहने पर भी वही उत्तर मिलता है 'अभी व्यस्त हूं। इसका फलित यह हुआ कि जब और सब काम पूरे हो जाएं,

आदमी निकम्मा हो जाए तब यह निकम्मा काम (धर्माराधना) होता है। उनकी दृष्टि में यह अनावश्यक और व्यर्थ काम है। आत्मानुशासन की सार्थकता आदमी समझ नहीं रहा है।

अध्यात्म-शिक्षा का उद्देश्य है आत्मानुशासन पैदा करना। इस विषय में अध्यात्म के आचार्यों ने अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। स्वावलम्बन और स्व-निर्भरताहृये दो आत्मानुशासन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जो व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं होता, स्व-निर्भर नहीं होता, वह आत्मानुशासी नहीं हो सकता। जो आत्मानुशासी होगा वही स्वावलम्बी और स्व-निर्भर होगा। धर्म के आचार्यों ने इस विषय में जो तथ्य प्रस्तुत किए थे, वे भुला दिए गए। राजकुमार दीक्षित होने जा रहा है, माता-पिता नहीं चाहते कि वह दीक्षित हो, क्योंकि दीक्षा एक निकम्मा काम है। और सब काम माता-पिता सह लेते हैं, पर आत्मानुशासन की दिशा में लड़का और लड़की प्रस्थान करता है तो वे वर्जना करेंगे, यह मत करो, दीक्षा मत लो। औरों की तो बात ही क्या, पड़ोसी भी वर्जना करने लग जाते हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के वर्चस्वी आचार्य कालूगणी उदयपुर में थे। उस समय उदयपुर के ही निवासी मीठालालजी दीक्षित हो रहे थे। उनकी दीक्षा को लेकर उदयपुर में भयंकर बवंडर खड़ा कर दिया। चारों ओर यही आवाज सुनाई देने लगीहृयह दीक्षा नहीं होनी चाहिए। किसी ने उनसे पूछ लियाहृ'भाई! क्या इस दीक्षा में तुम्हारा भी कोई संबंध है?' वे कहतेहृ'संबंध तो कुछ भी नहीं, पर यह दीक्षा नहीं होनी चाहिए।'

मनुष्य चाहता ही नहीं है कि आत्मानुशासन आए। वह चाहता है कि सब उसके जैसे होकर रहें, कोई किसी दूसरी पंक्ति में या आगे जाकर न बैठ जाए। कोई आगे जाना चाहे तो उन लोगों की कमी नहीं है जो उसकी टांग खींचकर पीछे ले जाने का प्रयत्न न करते हों। भरे पड़े हैं वैसे लोग सारी दुनिया में। आगे बढ़ने के लिए सहारा या सहयोग देने वाला खोजने पर भी नहीं मिलेगा और पीछे सरकाने वाले बिना प्रयत्न ही सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं। उन्हें अच्छा नहीं लगता यह आत्मानुशासन का पथ।

एक राजकुमार दीक्षित हो रहा था। माता-पिता ने कहाहृ'कुमार! तुम बड़े सुकुमार हो, बहुत कोमल हो। तुम दीक्षित हो रहे हो। तुम्हें ज्ञान नहीं है, शरीर में बीमारी पैदा हो जाएगी, तो चिकित्सा नहीं करा सकोगे। अचिकित्सा है यह संयम का मार्ग। बीमारी पैदा होने पर क्या करोगे? कौन आहार पानी लाकर देगा? भूखे-प्यासे और रुग्ण होकर बैठे रहोगे। क्या प्रास होगा?'

राजकुमार बोलाहमाता-पिता! जंगल में रहने वाले पशु बीमार हो जाते हैं। कौन उनकी परिचर्या करता है? कौन उन्हें भोजन पानी लाकर देता है? रुग्ण पड़े रहते हैं। जब स्वस्थ होते हैं तब जंगल में जाकर खा-पी लेते हैं। जब ये पशु भी ऐसा कर सकते हैं तो मैं मनुष्य हूँ, ऐसा क्यों नहीं कर सकूंगा?’

यह एक महत्वपूर्ण खोज थी स्वावलम्बन और स्व-निर्भरता की। रोग की स्थिति में भी दूसरे का सहारा न लिया जाए। यदि रोग का प्रतिकार करना हो तो बाहरी वस्तु से न किया जाए।

अमेरिका में एक संस्थान ऐसा है, जिसके सदस्य दवा का कभी प्रयोग नहीं करते। ऑपरेशन की आवश्यकता होने पर भी ऑपरेशन नहीं कराते। सदस्य थोड़े हैं, वे कट्टरता से इसका पालन करते हैं। सब कुछ वे ईश्वर पर छोड़ देते हैं।

‘तेगिच्छं नाभिनदेज्जा’ हजैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह बहुत प्राचीन सिद्धांत है। जैन आगमों में यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यह कैसे संभव हो सकता है कि बीमारी हो और चिकित्सा न हो? चिकित्सा हो सकती है पर बाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द है। स्वावलम्बन और स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, बाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर वस्तु से चिकित्सा मत करो।

शरीर में रोग पैदा होता है तो शरीर में नीरोगता की भी पूरी व्यवस्था है। आसनों का विकास इस दिशा में हुआ था। आसनों का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास और विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग रोग-निवारण की दिशा में हुआ था। इसमें नाड़ी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था।

पाचन कमजोर है, भोजन के बाद वज्रासन में बैठो, पाचन की दुर्बलता मिट जाएगी।

पाचन की गड़बड़ी है। भोजन के बाद दाएं नथुने से पन्द्रह मिनट तक श्वास लो, पाचन स्वस्थ होने लगेगा।

पाचन दुर्बल है। महामुद्रा का प्रयोग करो, पाचन ठीक होने लगेगा।

प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए आसन और नाड़ियों का प्रयोग तथा स्वर का प्रयोग खोजा गया था। हजारों आसनों का प्रयोग होने लगा। शारीरिक बीमारी हो तो आसनों का प्रयोग किया जा सकता है और मानसिक बीमारी के लिए भी आसनों का प्रयोग किया जा सकता है।

ये सारे तथ्य स्वावलम्बन और आत्मानुशासन के लिए खोजे गए थे।

आत्मानुशासन का अर्थ इतना ही नहीं है कि अपने पर अनुशासन करो, हाथ मत हिलाओ, पैर मत हिलाओ। आत्मानुशासन का अर्थ हैहत्तुम्हारे शरीर में कोई गड़बड़ी है, उसका प्रतिकार बाह्य वस्तु से नहीं, भीतर की व्यवस्था से करो। यह होगा आत्मानुशासन। नाड़ियों के विषय में अनेक खोजें हुई थीं। पूरे शरीर में इतने केन्द्र हैं, इतनी नाड़ियां हैं, उन सबका विज्ञान है। अमुक नाड़ी को दबाने से अमुक बीमारी शांत होती है और अमुक नाड़ी को दबाने से अमुक रोग शांत होता है। यह पूरा विज्ञान अनेक लोगों को ज्ञात था। भयंकर पेट का दर्द है, रीढ़ की हड्डी के परिपार्श्व को ऊपर से नीचे, पांच दस बार दबाते जाओ, पेट का दर्द देखते-देखते ठीक हो जाएगा।

हमारे पैर के अंगूठों, एड़ी, पसलियों, घुटनों और रीढ़ की हड्डी में अनेक स्नायु हैं, नाड़ियां हैं, जिनका उपयोग कर पूरी चिकित्सा की जा सकती है। यह सारा विज्ञान आज भुला दिया गया। यह विज्ञान दस-बीस प्रतिशत कहीं-कहीं बचा है, शेष विस्मृति के गर्त में चला गया है।

शरीर में अनुशासन की व्यवस्था है। उसके मूल घटक हैह्ररक्त का संचार, मांस का निर्माण, अस्थि का निर्माण और मजबूती। यदि हमारे शरीर में रक्त का संचार उचित ढंग से नहीं हो रहा है तो क्या शरीर का अनुशासन होगा? क्या आत्मानुशासन होगा? कभी नहीं होगा। उस व्यक्ति को चाहे हजार बार, लाख बार उपदेश दिया जाए, किंतु यदि शरीर में दूषित रक्त प्रवाहित है तो वह रक्त मन को दूषित करेगा। वह मस्तिष्क में भी विकृति पैदा करेगा। यह कभी संभव नहीं है कि उस व्यक्ति पर अनुशासन का कभी प्रभाव हो। जिसके शरीर की धातुएं स्वस्थ नहीं हैं, अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं कर रही हैं, आंते मलोत्सर्ग ठीक नहीं कर रही हैं, पक्वाशय ठीक पाचन नहीं कर रहा है, लीवर अपना अभिरंजक पित्त नहीं छोड़ रहा है, पेन्क्रियाज, फेफड़े और हृदय अपना काम नहीं कर रहे हैं तो क्या हम कल्पना करें कि अनुशासन आएगा? अनुशासन आ नहीं सकता। उस व्यक्ति के मन में विकृतियां ही पैदा होंगी। आत्मानुशासन की सबसे पहली बात या नींव की ईंट है रक्त का ठीक संचार, शरीर की धातुओं का ठीक से कार्य करना। वह व्यवस्थित चलता है तो मन का अनुशासन हो सकता है। शरीर और मन परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों एक दूसरे को इतना प्रभावित करते हैं कि मन की स्वस्थता के लिए शरीर की स्वस्थता और शरीर की स्वस्थता के लिए मन की स्वस्थता जरूरी है। पर दोनों में मूल है शरीर की स्वस्थता, शरीर की सारी क्रियाओं का सम्यक् संचालन। यदि शरीर की सारी क्रियाओं का सम्यक्

संचालन होता है तो वहां अनुशासन है, वहां एक व्यवस्था से काम हो रहा है। यदि वैसा नहीं है तो अनुशासन की गड़बड़ी यहीं से प्रारंभ हो जाएगी। हम पत्ते और फूल के अनुशासन को लाना चाहते हैं और 'जड़' (मूल) के अनुशासन को विस्मृत कर देते हैं।

आत्मानुशासन आएका शरीर के अनुशासन से, मन के अनुशासन से। मानसिक अनुशासन के लिए अध्यात्म के आचार्यों ने सैकड़ों-सैकड़ों पद्धतियां खोजी थीं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। सबसे कठिन काम होता है विकल्पों के जाल को रोकना। इतनी कल्पनाएं आती हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है। वे हैं असीम और अनन्त। आदमी नहीं चाहता कि इतनी कल्पनाएं आएँ। वह शांत रहना चाहता है, पर ज्ञान के तन्तु ढीले हो जाते हैं, मस्तिष्क के तन्तु ढीले हो जाते हैं, आदमी अपने पर नियन्त्रण या अनुशासन नहीं कर पाता। व्यर्थ की कल्पना आती है, जिनका जीवन में कोई संबंध नहीं है। उन कल्पनाओं को रोकने का अध्यात्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। चिकित्सा के क्षेत्र में डाक्टरों के पास एक उपाय है, कुछ गोलियां दे देना। यह कोई उपाय नहीं है। वे गोलियां शरीर के लिए हानिकारक होती हैं, हानि पहुंचाती हैं और अधिक मानसिक अस्त-व्यस्तता पैदा कर देती हैं। अध्यात्म ने विचार-शून्यता के लिए, निर्विकल्पता के लिए, चित्त को शांत करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाय खोजा था, वह था जीभ को स्थिर करना, यानी स्वरयंत्र को स्थिर करना। योग के अनुभवी आदमी से पूछा जाए कि विकल्प बहुत आते हैं, क्या करूं? वह कहेगाह्रखेचरी मुद्रा करो, जीभ को उलट कर तालु की ओर ले जाओ, जीभ को अधर में रखो। जीभ न ऊपर छुए, न दाएं-बाएं छुए। जीभ को अधर में रखो और हिलने मत दो। जीभ को स्थिर कर लो। वह बताएगा कि जीभ को दांतों की जड़ में दबा दो, जिससे वह हिले-डुले नहीं और सबसे अनुभवी होगा तो वह बताएगा कि स्वरयंत्र का कायोत्सर्ग कर लो, स्वरयंत्र को ढीला छोड़ दो। जिसने स्वरयंत्र को ढीला करना सीख लिया उसने मानसिक विकल्पों पर अनुशासन पा लिया। स्वरयंत्र ढीला है तो विकल्प आएका कहां से?

विकल्प आता है भाषा से। भाषा चाहे बोली जाने वाली भाषा हो या अन्तर् की भाषा हो। बाहर वचन न भी आए पर भीतर में तो हमारी भाषा चलती रहती है। जब जब आदमी सोचता है तब तब उसका फोटो लिया जाए, उसका परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि एक ओर दिमाग में चिंतन चल रहा है तो दूसरी ओर स्वरयंत्र का कंपन हो रहा है। स्वरयंत्र

कंपित होगा चिंतन के साथ साथ। जैसे ही हमारा चिंतन बन्द हुआ, स्वरयंत्र का कंपन बन्द हो जाएगा या स्वरयंत्र के कंपन को बन्द किया तो हमारा चिंतन बंद हो जाएगा। विकल्प और स्वरयंत्र की सक्रियताहदोनों साथ काम करते हैं। निर्विकल्प और स्वरयंत्र का कायोत्सर्ग या शिथिलीकरणहदोनों काम करते हैं। कितना महत्त्वपूर्ण उपाय खोजा गया था। इसीलिए जब विकल्प ज्यादा आने लगते हैं तो उपाय बताया जाता है कि जालंधर बंध करो, यानी टुड़डी को कंठकूप में लगाओ, कसकर लगाओ, दबा दो, विकल्प अपने आप बन्द हो जाएंगे। यह भी ध्यान का एक पद्धति है। जब लगे कि मन विकल्पों से भरा है, विकल्प बहुत सता रहे हैं, यह चक्का बन्द नहीं हो रहा है तो टुड़डी को कंठकूप में लगाकर पांच मिनट बैठ जाओ, ऐसा लगेगा कि बस, वह जो चक्का चल रहा था तेजी के साथ, वह धीमा पड़ गया है या बन्द हो गया है। जब कंठकूप का प्रयोग करते हैं टुड़डी के साथ तो स्वरयंत्र में शिथिलता आ जाती है।

भाषा और मन के संबंध को समझना बहुत जरूरी है। शरीर, भाषा और मनहइन तीनों में इतना गहरा संबंध है कि जब तक इन संबंधों का अध्ययन नहीं किया जाता, इनके प्रभावों का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक अध्यात्म के तत्त्व को समझा नहीं जा सकता।

हमने या हमारे पूर्वजों ने किसी कारणवश आत्मानुशासन की महत्त्वपूर्ण खोजों को भुला दिया। फिर भी चिंता की कोई बात नहीं है। जितने बचे हुए तथ्य हमें उपलब्ध हैं, वे पर्याप्त हैं, कम नहीं हैं।

यदि उन साधनों को सम्यक् प्रयोग किया जाए, उपयोग किया जाए तो आत्मानुशासन की उज्ज्वल संभावनाएं हमारे सामने प्रस्तुत हो सकती हैं। समस्या यह हैहचाहते हैं, अनुशासन, पर आत्मानुशासन की जड़ को खोदने में लग जाते हैं। अनुशासन चाहने वाले लोग सबसे पहली बात यही मानते हैं कि धर्म की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं। काम करो, उत्पादक श्रम करो, कोई चीज बनाओ, कुछ तैयार करो, पैदा करो। यह व्यर्थ का धंधा है धर्म में चले जाना। यह उन आलसी और निठल्ले लोगों का या सतरहवीं शताब्दी में जीने वाले लोगों का धंधा है। आज का प्रबुद्ध आदमी, सक्रिय आदमी, आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक प्रगति करने वाला आदमी और अमेरिका, जापान बनने का स्वप्न लेने वाला राष्ट्र अगर इन निकम्मे धर्म के धंधों में फंस जाएगा तो प्रगति की होड़ में पीछे रह जाएगा। हम तो मूल में प्रहार करना चाहते हैं आत्मानुशासन पर। जब कभी कोई प्रसंग आता है प्रबुद्ध लोगों का

तब वे सबसे पहले ज्यादा से ज्यादा प्रहार करते हैं तो धर्म पर करते हैं। अनुशासन की मांग और आत्मानुशासन पर प्रहार! बड़ी विचित्र बात है, पर दुनिया में विचित्रता भी चलती है। अगर आत्मानुशासन का विकास हो जाए तो फिर परानुशासन की पकड़ भी कम हो जाए। लोग नहीं चाहते कि ऐसा हो। इसलिए वे धर्म को, अध्यात्म या आत्मानुशासन को बहुत मूल्य नहीं देते, किन्तु परिस्थितियों का चक्र इस प्रकार घूमा है कि हजार उपाय कर लेने पर भी अनुशासन की समस्या हल नहीं हो रही है। आज फिर इस दुनिया में अध्यात्म का स्वर उभरता जा रहा है। आज सारे संसार में योग की मांग है।

प्रश्न होता है—आसन क्यों? इतनी दवाइयाँ, इतने साधन, इतने हॉस्पिटल, इतने स्पेशलिस्ट फिर आसन की जरूरत क्यों? दवाइयाँ देने वाले डॉक्टर भी सुझाते हैं कि दवाई से स्थाई लाभ नहीं होगा, तुम आसन का प्रयोग करो, योगा करो। घुटने में दर्द है; हड्डी टूट गई है, डॉक्टर कहते हैं—अब दवा का काम तो हो गया, पट्टे का काम तो हो गया, अब योगा करो। आजकल हर हॉस्पिटल के साथ योगा जुड़ गया।

क्या यह फिर आत्मानुशासन की ओर लौटने का कदम नहीं है? आज के हॉस्पिटल आत्मानुशासन की ओर लौट रहे हैं। दीर्घ श्वास का प्रयोग करो। फेफड़ा कमजोर है, दमा है, डॉक्टर दवा देते हैं, साथ में यह कहते हैं कि दवा से एक बार लाभ हो जाएगा, स्थायी लाभ चाहते हो तो प्राणायाम करो।

किसी आदमी के मानसिक विकृति है। मानसिक चिकित्सक चिकित्सा करता है, साथ में कहता ध्यान का अभ्यास करो, ध्यान सीखो। हृदय की बीमारी, हाई ब्लड प्रेशर या चीनी की बीमारी है, डॉक्टर कहते हैं कि चीनी मत खाओ, मिर्च-मसाले मत खाओ, इन सब चीजों को छोड़ो। बी.पी. बहुत ऊंचे हैं तो तली हुई चीजों को मत खाओ। चिकनी चीजें मत खाओ, ज्यादा प्रोटीन मत खाओ, ज्यादा दूध भी नहींहसारी वर्जनाएं। अरे! चले थे भोग के लिए, त्याग की बात करने लग गए? आत्मानुशासन की दिशा में अब नया प्रस्थान हो रहा है और लग रहा है कि चिकित्सा के क्षेत्र में इतने आविष्कार, अनुसंधान और दवाइयों के हो जाने पर भी डॉक्टर अब ज्यादा उन बातों को सुझाने लग गए हैं जो आत्मानुशासन के तत्त्व थे। नहीं तो उनका मेल क्या? एक साधु तो कहता है कि इन चीजों को मत खाओ, छोड़ दो, कम खाओ, बार-बार मत खाओ, आसन करो, प्राणायाम करो, पर डॉक्टर का इनसे क्या वास्ता? पर आज तो लगता है कि साधुओं का बहुत सारा काम डॉक्टर ही करने लग गए हैं।

नई दुनिया में फिर से आत्मानुशासन के लिए नया प्रस्थान शुरू हुआ है। इस प्रस्थान में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह जागरूक बने, जागे। आत्मानुशासन के प्रति जागे। प्रभावित न हो। हमें प्रभावित करने वाली बहुत बातें हैं और व्यक्ति बहुत प्रभावित होता है। हर घटना से प्रभावित होता है। यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि हमारा संबंध सबके साथ जुड़ा हुआ है। परिवार से संबंध होना बहुत स्थूल बात है। गहरे में जाकर देखें तो एक व्यक्ति को परिवार उतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रभावित करता है सौरमंडल। बहुत प्रभावित होता है व्यक्ति सौरमंडल से।

हमारी विराट, दुनिया! हम जिस पृथ्वी में रह रहे हैं, उस पृथ्वी की बात छोड़ दें। हमारे पूरे सौरमंडल, हमारी पूरी नीहारिका, जिसमें खरबों तारे हैं, ऐसी खरबों सौरमंडल की स्थितियां इस ब्रह्माण्ड में हैं। खरबों-खरबों तारे, ऐसे तारे जो सूर्य से भी बड़े तेजस्वी और ताप देने वाले। इनती बड़ी दुनिया में हम जीते हैं। चारों तरफ से प्रभाव आ रहे हैं। उन सारे प्रभावों से बचने का कोई उपाय यदि हो सकता है तो वह है भीतर से निकलने वाली रश्मियां। हमारे भीतर की अग्नि, हमारे भीतर का तेज, उसमें से जो रश्मियां निकलती हैं वे रश्मियां ही हमें प्रभावों से बचा सकती हैं। अन्यथा उन प्रभावों से बचने का कोई उपाय नहीं है। जब प्रभाव से नहीं बच सकते तो आत्मानुशासन भी नहीं हो सकता। आत्मानुशासन का मतलब होता है बाहरी प्रभावों से बचना। आदमी कितना प्रभावित होता है! हर कोई प्रभावित कर देता है। एक छोटा बच्चा भी प्रभावित कर देता है और एक बूढ़ा आदमी भी प्रभावित कर देता है। एक शब्द और एक इशारा प्रभावित कर देता है। हम तो सारे प्रभावों के, संक्रमणों के बीच जी रहे हैं। हमारे पास एक ही उपाय है उन प्रभावों से बचने का, आत्मानुशासन का विकास।

शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य है आत्मानुशासन का विकास और यह कार्य जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है। जीवन विज्ञान को छोड़कर विद्या की जितनी शाखाएं हैं उनके द्वारा यह कार्य संभव नहीं हो सकता। उनका प्रयोजन दूसरा है और उनकी निष्पत्ति दूसरी है। अपने आपको, अपने शरीर को, अपनी वाणी, मन और बुद्धि को, इन सबसे परे अदृश्य जगत् में काम करने वाले भावतंत्र को, यदि प्रभावित किया जा सकता है तो वह केवल अध्यात्म के द्वारा ही किया जा सकता है। अध्यात्म के आचार्यों ने जो खोजें की थीं, उन महत्वपूर्ण खोजों पर फिर हम अनुसंधान करें, विश्लेषण करें, ध्यान दें और उनका प्रयोग करें।

प्रज्ञाप्रदीप के प्रांगण में जो ये प्रयोग किए जा रहे हैं, यह वर्तमान युग के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। व्यक्ति अपने श्वास को, अपने प्रकम्पनों को और अपनी विद्युत् को देखता है, अपने में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को देखता है। यह देखने वाला कोई छोटा काम नहीं कर रहा है। वह अनुशासन की नींव को मजबूत कर रहा है, शक्तिशाली बना रहा है। इस सारी प्रक्रिया से गुजरने वाले लोगों में यह विश्वास होना चाहिए।

* आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब प्राणशक्ति का संतुलन होगा।

* आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब प्रियता और अप्रियता से मुक्त क्षण में जीने का अभ्यास होगा।

* आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब शरीरबल, मनोबल, विचारबल और बुद्धिबल में संतुलन स्थापित होगा।

इस प्रक्रिया के बिना आत्मानुशासन नहीं होगा और आत्मानुशासन के बिना वह अनुशासन, जो चाहा जा रहा है, नहीं आएगा। यह निश्चित मानकर उपयुक्त दिशा में हमारा प्रस्थान होना चाहिए।

स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण

बच्चा जन्म लेता है तब शिक्षित नहीं होता। जैसे जैसे दिन बीतते हैं, वह शिक्षित होना शुरू हो जाता है। एक नवजात शिशु प्रकृति को नहीं जानता, वर्णमाला को नहीं जानता, बाह्य जगत् को नहीं जानता। दिन बीतने के साथ साथ वह उन सबसे परिचित होता चला जाता है।

बच्चा वर्तमान में जीता है। न उसके सामने अतीत की स्मृति होती है और न भविष्य की कल्पना। अविकसित ज्ञान और वर्तमान में जीना। वह जैसे जैसे सामाजिक संपर्कों में आता है, अतीत भी बनता है, स्मृतियां भी बनती जाती हैं और कल्पनाओं का निर्माण भी होता जाता है। बच्चा सीखता है वातावरण से, परिस्थिति से, सम्पर्क से और अध्यापक से। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तित्व का निर्माण, जो जन्मा है उसका व्यक्तित्व विकसित हो।

अध्यात्म शिक्षा की चर्चा हो रही है। ध्यान एक शिक्षण है। ध्यान कोई पलायन नहीं है, किन्तु शिक्षा है। लौकिक शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तित्व का निर्माण। व्यक्तित्व का निर्माण एक बात है और स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण दूसरी बात है।

मनुष्य के भीतर इच्छाएं होती हैं, रुचियां होती हैं। इन्द्रियां मांग करती हैं। मांग पैदा होती है। बिना मांग के कोई काम होता नहीं। दुनिया की यह प्रकृति है कि मांग के बिना कुछ भी नहीं होता। मांग होती है तो कोई कार्य होता है। भूख की मांग है तो रोटी खाई जाती है। अगर मांग न हो तो कोई भी आदमी नहीं खाएगा। मांग के बाद सब कार्य होते हैं। रुचि की मांग और इच्छा की मांगहये दो बहुत बड़ी मांगें हैं। इच्छा की तरंग पैदा होती है, आदमी काम में प्रवृत्त होता है। रुचि की मांग पैदा होती है, आदमी काम में लगता है। इच्छा पैदा हुई, रुचि पैदा हुई और आदमी काम में लग जाए, वह व्यक्तित्व स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता। इच्छा और रुचि की मांग को सदा स्वीकार करने वाला व्यक्तित्व स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं हो सकता। स्वतंत्र

व्यक्तित्व वह होता है जो इन्द्रियों की मांग और इच्छा की मांग को भी अस्वीकार कर सके, विवेक कर सके, निर्णय कर सके कि यह मांग स्वीकार्य है या नहीं। यदि वह मांग स्वीकार करने जैसी नहीं है तो उसको ठुकरा दिया जाना चाहिए और यदि मांग में कोई औचित्य है, स्वीकार करने जैसी है तो उसे स्वीकार भी कर लेना चाहिए। यह विवेक की शक्ति, यह अस्वीकार की शक्ति स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण है। यह लौकिक शिक्षा के द्वारा संभव नहीं। शिक्षा का जो आदर्शवादी दृष्टिकोण है उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण। किन्तु वह आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यावहारिक कितना बनता है, इसका दायित्व कोई नहीं लेता।

एक उपदेश है इन्द्रियों की मांग को अस्वीकार करो, रुचि और इच्छा की मांग को स्वीकार करो। विद्यार्थी को इतना बतला देना ही पर्याप्त नहीं होता कि तुम शिक्षा पाते हो, ध्यान करते हो इसलिए तुम इच्छा की मांग को अस्वीकार कर दो। विद्यार्थी को सिखा दिया, ध्यानार्थी को उपदेश दे दिया, क्या वाचिक शिक्षा या उपदेश मात्र से यह संभव बन जाएगा कि वह अस्वीकार कर सके? अस्वीकार की शक्ति जागे बिना अस्वीकार हो नहीं सकता। सिद्धांत अच्छा है। हम सिद्धांत को जान लेते हैं, किन्तु सिद्धांत की क्रियान्विति शक्ति के बिना नहीं हो सकती। सबसे पहली बात है शक्ति। मैं शक्ति-पूजा में बहुत विश्वास रखता हूं। शक्ति की पूजा है शक्ति की आराधना। यह शक्ति की आराधना कोई बाहरी तत्त्व की आराधना नहीं है। अपने भीतर में सोई हुई शक्ति की पूजा करना और सोई हुई शक्ति की आराधना करना शक्ति का जागरण है। प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति सोई हुई है। उस शक्ति को जगाना है। सबसे बड़ी बात वह नहीं जो प्रेरित कर सके, बड़ी बात वह है जो जगा सके। लौकिक शिक्षा के पास शक्ति को जगाने का साधन है हम मात्र बुद्धि को प्रेरित करना; विचार दे देना। विचार से शक्ति का जागरण कहीं होता होगा, सौ में एक शक्ति का हुआ होगा, किन्तु विचार शक्ति-जागरण का बहुत बड़ा साधन नहीं है। शक्ति के जागरण का साधन है हम अनुभव। अनुभव जाग जाता है तो शक्ति जाग जाती है। अध्यात्म के आचार्यों ने जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही, वह है प्राणशक्ति का विकास। प्राणशक्ति का विकास होता है तो इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति, सारी शक्तियां जाग जाती हैं। जब तक प्राणशक्ति का विकास नहीं होता, कोई शक्ति नहीं जागती।

आज बहुत बड़ी कठिनाई है प्राणशक्ति को जगाने की। एक कठिनाई है

प्राकृतिक वातावरण की। इतना दूषित हो गया है हमारा प्राकृतिक वातावरण, इतने जहरीले तत्त्व उसमें मिल गये हैं, मनुष्य को इतना कम ऑक्सीजन, इतनी कम प्राणवायु और इतने कम प्राण-तत्त्व मिलते हैं कि प्राण-शक्ति को जगाना बहुत कठिन हो गया है। दूसरी बात है प्राण-शक्ति को चाहिए पूरा श्वास। हम नाक से श्वास लेते हैं, वह भी पूरा नहीं लेते। बहुत छोटा श्वास लेते हैं। पूरा प्राण का तत्त्व जाता ही नहीं है। जब तक श्वास दीर्घ नहीं होता, प्राण-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में कैसे जाएगा और जो शरीर के भीतर दूषित तत्त्व जमा हुआ है वह बाहर कैसे निकलेगा ?

श्वास की भी एक सीमा है। वह नाक से लिया जाता है और श्वासनलिका में से होता हुआ फेफड़ों में पहुंच जाता है। उससे आगे कोई रास्ता नहीं। श्वास का रास्ता बहुत छोटा है हमारे शरीर में। शरीर बहुत बड़ा है। शरीर श्वास के आधार पर नहीं चल रहा है। हम लोग श्वास के आधार पर नहीं जी रहे हैं। हम जिससे जी रहे हैं, वह है प्राण। श्वास तो प्राण का एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी मात्र है। मूल शक्ति हैह्यप्राण। हम प्राण के द्वारा जी रहे हैं। प्राण हमारे पूरे शरीर में फैला हुआ है। प्राण के लिए शरीर का पूरा मार्ग खुला हुआ है। कोई भी मार्ग ऐसा नहीं, जहां प्राणशक्ति न जा सके और यदि प्राणशक्ति न जा सके तो वह अंग भी फिर जीवित अंग नहीं होगा, मृत अंग होगा। पूरे शरीर से हम प्राण को ग्रहण करते हैं। ऊपर से प्राण को लेते हैं, नीचे से प्राण को लेते हैं, तिरछी दिशाओं से प्राण को लेते हैं, दाएं-बाएं, आगे-पीछे, एक भी शरीर का कण ऐसा नहीं जिनके द्वारा प्राणशक्ति को न ले सकें।

श्वास को रोका जा सकता है। एक मिनट भी रोका जा सकता है, एक दिन भी रोका जा सकता है और एक वर्ष भी रोका जा सकता है। श्वास की साधना की जा सकती है। किन्तु अप्रमाण होकर एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। यदि हमारे शरीर से प्राण के स्रोत अलग हो जाएं तो शरीर एक सेकेण्ड भी नहीं जी सकता। सारे शरीर में प्राण के स्रोत हैं, द्वार हैं जिनमें से प्राण जाता है। शरीर का कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं जो प्राण का स्रोत न हो। सुना होगा, किसी व्यक्ति ने शरीर पर लेप लगा लिया, रोम बंद कर दिए, छिद्र बंद कर दिए। सो गया। वह सुबह जीवित नहीं मिला। जीवित रहना संभव भी नहीं है। जब प्राण के द्वार बंद हो जाएं तो फिर प्राणी का जीना कभी संभव नहीं हो सकता। हमारी मूल शक्ति हैह्यप्राण की शक्ति। श्वास का प्रयोग किया जा रहा है, यह प्रारंभिक प्रयोग है। आगे यह भी प्रयोग करना है

कि पूरे शरीर से प्राण को ले सकें। कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेट गए, एक संकल्प के साथ, पूरे शरीर से श्वास लेना शुरू किया। प्राण का ग्रहण शुरू किया और इस अनुभव में लग गए कि पूरा शरीर, शरीर का कण-कण और शरीर का हर सेल श्वास ले रहा है। पूरे शरीर की संवेदनशीलता जाग जाएगी और पूरा शरीर प्राण-शक्ति से ओत-प्रोत हो जाएगा। यह प्राणशक्ति के विकास का प्रयोग है। अध्यात्म के आचार्यों ने केवल उपदेश नहीं दिया कि प्राणशक्ति का विकास करो। उन्होंने इसके प्रयोग भी बतलाए और उनमें यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पूरे शरीर से प्राण लेने का अनुभव करना।

साधना की दृष्टि से तीन बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं।

१. प्राणकेन्द्रहनासाग्र।
२. दर्शनकेन्द्रहृत्कुटी के बीच का केन्द्र, अन्तर्दृष्टि का केन्द्र।
३. ज्योतिकेन्द्रहृत्आचार के अनुशासन का केन्द्र, स्वभाव-परिवर्तन और स्वभाव-नियंत्रण का केन्द्र।

स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के लिए ये तीन अपेक्षाएं हैं। प्राणशक्ति का विकास, अन्तर्दृष्टि का विकास और अनुशासन का विकास, नियन्त्रण का विकास।

पहली बात है प्राणशक्ति का विकास। यदि हम नासाग्र का ठीक उपयोग करें, प्राणकेन्द्र पर दीर्घकाल तक ध्यान करें तो प्राणशक्ति का विकास हो जाता है। प्राणशक्ति का विकास हुए बिना अलग विकास होना कठिन लगता है। प्राणशक्ति एक विस्फोट की शक्ति है। शक्ति के बिना दुनिया में कुछ भी नहीं होता। सारे काम शक्ति के माध्यम से होते हैं। मनुष्य को संघर्ष भी करना पड़ता है, विस्फोट भी करना पड़ता है। हमारा जीवन समन्वयात्मक है, सह-अस्तित्व वाला है, किन्तु उसमें संघर्ष के बीज भी छिपे हुए हैं। अतः संघर्ष भी करना बहुत जरूरी है और स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए तो संघर्ष करना बहुत जरूरी है। पलायन से काम नहीं चलता, संघर्ष होता है। संघर्ष शक्ति के बिना हो नहीं सकता।

स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए दूसरी बात है अन्तर्दृष्टि का विकास। शक्ति आखिर शक्ति है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए भी हो सकता है और शक्ति का उपयोग बुरे काम के लिए भी हो सकता है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए हो, इसके लिए जरूरी है अन्तर्दृष्टि का विकास। कोरा प्राणशक्ति का विकास बहुत खतरनाक बन जाता है। विकास को भी ठीक दिशा में संचालित करने के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास चाहिए।

अन्तर्दृष्टि के विकास का स्थान हैहृदयदर्शनकेन्द्र। दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने वाला व्यक्ति अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध हो जाता है। अन्तर्दृष्टि मन की सीमा एवं बुद्धि की सीमा से परे है। जहां मन की सीमा एवं बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है, विवेक की सीमा समाप्त हो जाती है, उससे परे की सीमा हैहृदयअन्तर्दृष्टि का विकास। समूचा धर्म अन्तर्दृष्टि के विकास से उपजा है। इसलिए जो लोग बुद्धि के स्तर पर काम करते हैं वे यदि धर्म का विरोध करें तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। बुद्धि की सीमा में सोचने वाला व्यक्ति अगली सीमा, जिसे कि वह नहीं जानता, उसका विरोध करे तो उसका आश्चर्य क्यों होना चाहिए ?

जिसकी अन्तर्दृष्टि जाग जाती है उसका चिन्तन, उसका विचार, उसके निर्णयहृदयसारे अलौकिक हो जाते हैं। हम किसको लौकिक और किसको अलौकिक मानें ? कोई बीच में सीमारेखा तो होनी चाहिए। दोनों की सीमारेखा है अन्तर्दृष्टि।

दो जगत् हैं। एक है बुद्धि का जगत् और दूसरा है अतीन्द्रिय ज्ञान का जगत्। दोनों के बीच में है अन्तर्दृष्टि का जगत्। जहां तक बुद्धि है वह है लौकिक और बुद्धि से परे अन्तर्दृष्टि की सीमा में प्रवेश करना है अलौकिक। अन्तर्दृष्टि का निर्णय, अन्तर्दृष्टि का व्यवहार, अन्तर्दृष्टि का आचारहृदयसारा अलौकिक होता है। बुद्धि का व्यापार, बुद्धि का व्यवसाय, बुद्धि का निर्णय और बुद्धि का आचरणहृदय यह सारा लौकिक होता है।

राजा ने प्लेटो को फांसी की सजा दे दी। संयोगवश फांसी नहीं हो सकी। गुलाम बना दिया। गुलाम बनाना भी बहुत बड़ा दण्ड था उस समय का। किसी स्वतंत्र व्यक्ति को गुलाम बना देना और उसे मालिक की इच्छा पर निर्भर कर देना। स्वामी चाहे तो पीटे, मारे, जो चाहे सो करे। प्लेटो को गुलाम बना दिया। सचाई का पता चला तो उसे मुक्त कर दिया। गुलामी से वह मुक्त हो गया। राजा ने क्षमा मांगी कि मैंने अपराध किया अनजाने में । बिना सचाई को पहचाने, आपको कष्ट दिया, फांसी की सजा दी, मैं क्षमा चाहता हूं, आप मुझे क्षमा करें।

प्लेटो ने कहाहृदय'मैं सत्य की शोध में लीन हूं। मुझे पता ही नहीं कि तुमने फांसी की सजा दी और तुमने गुलाम बनाया। किसकी माफी दूं, किसको क्षमा करूं। मुझे पता ही नहीं कि क्या किया।'

क्या यह कोई लौकिक निर्णय हो सकता है ? क्या यह कोई बुद्धि का निर्णय हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं हो सकता। यदि बुद्धिवादी आदमी होता

तो बड़ा अभियोग पत्र तैयार करता। कितने तर्क प्रस्तुत करता कि तुमने बिना सोचे-समझे दण्ड दिया, मुझे फांसी की सजा दी, गुलाम बनाया, इतना कष्ट दिया और अब चाहते हो क्षमा। क्या यह संभव है? यह कभी नहीं होगा। जब तक प्रतिशोध न ले लूं, जब तक बदला न ले लूं तब तक क्षमा की बात नहीं हो सकती। न जाने कितने ऐसे स्वर सुनने को मिलते हैं कि यह सारी गड़बड़ी तो कर दी और अब क्षमा चाहता है। मैं ऐसा नहीं हूँ कि क्षमा दे दूँ। मैं उसे याद दिलाऊंगा कि क्षमा क्या होती है और उसने क्या किया था? लौकिक निर्णय तो यही होना चाहिए और यही होता है।

प्लेटो का अलौकिक स्वर कहां से आया? बुद्धि से नहीं आया। बुद्धि का यह स्वर नहीं हो सकता। यह है अन्तर्दृष्टि का स्वर।

आचार्य भिक्षु पाली में थे। चातुर्मास किया। एक स्थान में ठहरने गए। दुकान थी। दुकान मालिक ने ठहरने की स्वीकृति भी दे दी। किन्तु ऐसा वातावरण बना, किसी ने उकसाया कि क्या कर रहे हो? फिर दुकान मिलेगी भी नहीं। कब्जा हो जाएगा। भड़का दिया। भड़काने वाले की भावना ठीक नहीं थी, नीति अच्छी नहीं थी। मालिक आया और बोलाहमुनिजी! दुकान खाली कर दें। अब आप दुकान में नहीं रह सकते। मालिक मनाही करे तो साधु रह नहीं सकता। आचार्य भिक्षु दूसरे स्थान पर चले गए। चातुर्मास चल रहा था, वर्षा हो रही थी। काफी पानी गिरा। दुकान भी पुरानी थी। पूरी दुकान ढह गई। किसी ने आकर कहाहमहाराज! आप जिसमें पहले ठहरने वाले थे, वह दुकान तो ढह गई। आचार्य भिक्षु ने कहाहकितना उपकारी था वह जिसने दुकान मालिक को भड़काया। अगर वह नहीं भड़काता, मकान मालिक अस्वीकार नहीं करता तो हम लोग वहां ठहरते और आज जब दुकान ढहती तो सारे साधुओं की क्या स्थिति होती? कितना उपकारी!’

क्या यह बुद्धि का स्वर है? बुद्धि का स्वर तो यह होता कि उसकी कितनी बुरी नीति थी। हमारे साथ उसने कितना बड़ा अन्याय किया। न जाने कितनी बातें कहीं जाती। किन्तु घटना को न देखना, घटना की प्रेरणा को न देखना, घटना की एक अलौकिक व्याख्या करनाहयह अन्तर्दृष्टि का स्वर हो सकता है, बौद्धिक जगत् का स्वर नहीं हो सकता।

स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है। जब तक अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता तब तक हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं हो सकता। फिर तो हम दूसरों के इशारों पर खेल सकते हैं, किन्तु अपनी स्वतंत्र चेतना का उपयोग नहीं कर सकते।

क्या आदमी दूसरों के इशारों पर नहीं खेलता? स्वतंत्रता कहां उपलब्ध होती है? स्वतंत्रता की बात बहुत होती है किन्तु प्राणशक्ति का समुचित विकास हुए बिना और प्राणशक्ति के द्वारा अन्तर्दृष्टि को विकसित किए बिना यह स्वतंत्रता की चेतना जागती नहीं। जिन लोगों ने प्राणशक्ति का विकास नहीं किया अथवा प्राणशक्ति का विकास करके उसको अन्तर्दृष्टि के विकास में नहीं लगाया, वे हजारों वर्षों के चर्चा, विवेचन और उपदेशना के बाद आज भी अलौकिक और अन्तर्दृष्टि की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। यह प्रतीक्षा अनन्त-काल तक चले तो भी काम नहीं होगा। प्रतीक्षा प्रतीक्षा रह जाएगी।

एक घटना याद आ रही है। तीन व्यक्ति होटल में गए। खूब छक कर भोजन किया। अब जाने लगे तो बिल चुकाने की बात थी। तीनों में झगड़ा हो गया। उसने कहा 'बिल तुम चुकाओ।' उसने कहा 'तुम मुझे बुलाकर लाए हो, मैं क्यों चुकाऊं, तुम चुकाओ।' तीसरे से कहा 'तुम चुकाओ।' उसने कहा 'मैं क्यों चुकाऊं, मुझे तो खाने की जरूरत भी नहीं थी। तुम्हारे कहने से यहां आया।' बड़ी मुसीबत हो गई। पांच-दस मिनट बीत गए। तीनों लड़ रहे हैं। होटल का मालिक तो देखकर दंग रह गया। बोला 'भाई! लड़ते क्यों हो? तीनों में से कोई चुकाओ, मेरा बिल तो चुकाना पड़ेगा। इतना खाया है कैसे नहीं चुकाओगे?' जैसे वह समझाने का प्रयत्न करता है, लड़ाई और तेज होती है। आखिर, कोई तो रास्ता निकालो, होटल का मालिक बोला। एक व्यक्ति बोला 'मैं एक प्रस्ताव करता हूं कि हम एक दौड़ करें, जो दौड़ में पीछे रहेगा वह बिल चुकाएगा।' तीनों ने स्वीकार कर लिया। तीनों की मिलीभगत थी। होटल के मालिक ने कहा 'दौड़ शुरू करो। वह भी दौड़ में मस्त हो गया। पता ही नहीं कि क्यों हो रहा है। दौड़ शुरू हुई। वह आगे, दूसरा उसके पीछे, तीसरा उसके पीछे, दौड़ते-दौड़ते भाग खड़े हुए। घंटे बीत गए, मालिक प्रतीक्षा कर रहा है कि कब आते हैं बिल चुकाने के लिए। कौन आए? आने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। जीवन भर प्रतीक्षा करो, पीछे रहने वाला बिल चुकाने नहीं आएगा।

लगता है, कभी-कभी दौड़ की बात बहुत पसंद आ जाती है और जिसका स्वार्थ जुड़ा है उसको भी पसंद आ जाती है। यह एक खेल है। दर्शक प्रतीक्षा करता है कि कौन आगे जाता है, कौन पीछे रहता है और कैसे रहने वाला बिल चुकाता है।

हम भी प्रतीक्षा में बैठे हैं कि यह अलौकिक निर्णय, स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण, स्वतंत्र चेतना का जागरण हो, जिससे हमारी शिक्षा की सार्थकता

बने और हम सही काम कर सकें। बिना अध्यात्म की शिक्षा का सहारा लिए कितनी ही प्रतीक्षा करें, यह कभी संभव ही नहीं है कि स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित हो जाए। इसलिए शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा का योग होना अनिवार्य है मनुष्य-जाति के विकास के लिए। आज जो मनुष्य-जाति का विकास हुआ है, क्या उसकी अन्तिम सीमा आ गई? क्या इससे पूर्व इतना ही विकास था? यदि अन्तिम मानकर बैठ जाते तो हमारी बड़ी भूल होती।

केवल धर्म के आचार्य नहीं, आज के समाज-शास्त्री, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भी इस भाषा में सोचते हैं कि पुराने मनुष्य के एक आंख और होती थी। उसकी वह तीसरी आंख थी दर्शन-केन्द्र और ज्योति-केन्द्र। यह हर आदमी के होती थी। आदमी उसका उपयोग करता था। उसके द्वारा दूर की बातों को देखता था। किन्तु जैसे जैसे सामाजिक संघर्ष बढ़े, दूसरी परिस्थितियां बढ़ीं, बाहरी आवेश ज्यादा बढ़ा, जैसे जैसे उसका उपयोग भूलते गए और वह तीसरी आंख लुप्त हो गई। छिपी हुई आज भी है किन्तु लुप्त हो गई। उस अन्तर्दृष्टि का विकास, बिना साधना के प्रयोग के संभव नहीं। आज यह तो अच्छा हुआ कि शिक्षा के साथ केवल सिद्धांत की बात नहीं रही। उसके साथ सिद्धांत और प्रयोग दोनों बातें जुड़ गईं। विज्ञान की सारी शिक्षा एक प्रायोगिक शिक्षा होती है। प्रयोग साथ में चलता है। केवल पढ़ना ही नहीं होता, प्रयोग चलता है। यह ध्यान की शिक्षा सैद्धांतिक भी है और प्रायोगिक भी है। सिद्धांत भी चलता है और प्रयोग भी चलता है। यदि ध्यान की शिक्षा-पद्धति में कोरा सिद्धांत हो और प्रयोग न हो तो यह भी वैसी ही शिक्षा बन जाएगी। बिना प्रयोग के कुछ भी नहीं होता। एक आदमी ध्यान के बारे में दस पुस्तकें पढ़ ले, दो वर्ष तक बराबर पढ़ता रहे। मात्र बौद्धिक व्यायाम जैसा हो जाएगा, मिलेगा कुछ भी नहीं। जब तक अभ्यास नहीं होगा, तब तक कुछ भी उपलब्धि नहीं होगी।

एक व्यक्ति शिविर में आया। अच्छा युवक, पढ़ा-लिखा, समझदार। ध्यान के बारे में जो साहित्य निकलता, उसे वह दो वर्षों से बराबर पढ़ रहा था। आया यहां शिविर में। तीसरे दिन ही मेरे पास आकर बोलाह 'मैं तो बड़ी भ्रान्ति में रहा। मैंने सोचा था, पढ़ने से काम चल जाएगा। दो वर्ष हो गए, साहित्य को पढ़ता, किन्तु इन दो दिनों में जो स्पष्टता हुई है, वह दो वर्षों में नहीं हुई,

यह निश्चित है कि अभ्यास के बिना अनुभव की चेतना नहीं जागेगी, अन्तर्दृष्टि नहीं जागेगी। अभ्यास जरूरी है। केवल दस दिन का अभ्यास

पर्याप्त नहीं है। दस दिन का अभ्यास किया, घर पर गए, अभ्यास को छोड़ दिया। शायद शिविर को भी इतना सुयश नहीं देंगे। ध्यान को भी इतना यश नहीं देंगे। लोगों को यह कहने का मौका मिलेगा कि ध्यान किया, क्या परिवर्तन हुआ? क्या ध्यान कोई जादू है? क्या ध्यान कोई सम्मोहन है कि एक क्षण में ही डंडा घूम जाए। ऐसा नहीं होता। ध्यान तो चेतना की परिस्थिति का निर्माण है। कुआं खोदने वाले का काम है कुआं खोद देना। पानी लाने वाले का काम है घर में पानी लेकर रख देना। पानी है, गिलास पड़ी है, कोई आदमी पानी नहीं पीता है, तो क्या कुएं का दोष होगा? क्या पानी लाने वाले का दोष होगा? उनका जितना काम था कर दिया, किन्तु पानी पीना तो अपने हाथ की बात है। यदि हमारा सतत अभ्यास चालू नहीं है तो ध्यान के द्वारा जो लाभ मिलना चाहिए वह लाभ कभी नहीं मिलता। आवश्यक है, निरन्तर उसका प्रयोग चले, अभ्यास चले। अभ्यास के द्वारा हमारी अन्तर्दृष्टि जागती है।

स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए तीसरी बात है अनुशासन का विकास। ललाट के मध्य में ज्योतिकेन्द्र है। उससे सारा संचालन होता है। भ्रुकुटी से लेकर सिर के अगले भाग तक पांच-छह अंगुल का जो भाग है, वह पूरी संचालन का काम कर रहा है। इसीलिए सबसे ज्यादा इस पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। यह खोज आज से हजारों वर्ष पहले हो चुकी थी। आज के शरीर-शास्त्र ने इसका प्रतिपादन किया है कि पिच्यूटरी, पीनियल और हाइपोथैलेमस हृये तीन हमारे पूरी व्यक्तित्व का संचालन कर रहे हैं। संचालन करना, संतुलन करना हमारे विशेष केन्द्रों पर निर्भर है। एक भाई ने बताया कि मेरी बहिन के एक बीमारी हो गई। उसका संतुलन खो गया। खड़ी नहीं रह सकती, गिर जाती है। चलते-चलते लड़खड़ा जाती है। बहुत निदान किया, पता नहीं चला। आखिर बम्बई गए। एक कुशल डॉक्टर से मिले। उसने सही निदान किया। दवा दी और ठीक हो गई। मैंने पूछा, क्या थी बीमारी। कान के पास एक स्नायु है। उस स्नायु में थोड़ी-सी गड़बड़ हो जाती है तो हमारा संतुलन खोज जाता है। फिर आदमी लड़खड़ाने लगता है, वह ठीक से न बैठ सकता है, न लेट सकता है और न चल सकता है। संतुलन रखने वाले अवयवों का बड़ा महत्त्व होता है। नियंत्रण करने वाले, शासन करने वाले तत्त्वों का बहुत ज्यादा महत्त्व होता है। हमारे शरीर का यह नियंत्रण-कक्ष, जो समूचे शरीर की गतिविधियों का नियंत्रण करता है, समूचे साम्राज्य का नियंत्रण करता है, केवल पांच-छह अंगुल की सीमा में है। इसको

साधने का अर्थ होता है अनुशासन का विकास।

दर्शन-केन्द्र अन्तर्दृष्टि को विकसित करता है, ज्योति-केन्द्र सारी आचारात्मक प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है और अग्रिम मस्तिष्क समूचे तापमान का नियंत्रण करता है। सबको नियंत्रित करता है हाइपोथेलेमस। वह पीनियल को भी नियंत्रित करता है। पीनियल पिच्यूटरी को नियंत्रित करती है। यह पांच-छह अंगुल का भाग सारा नियंत्रण करता है और यहां से समूचे शरीर का नियंत्रण होता है।

जब ये तीन विकास हो जाते हैं प्राणशक्ति का विकास, अन्तर्दृष्टि का विकास और अनुशासन (नियंत्रण) की शक्ति का विकास तब स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण संभव है। उसके बिना स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण कभी संभव नहीं हो सकता।

हर व्यक्ति अपने आप में गर्व करता है कि मैं स्वतंत्र हूँ। सभी राष्ट्र अपने आप में गर्व करते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। सार्वभौम सत्ता हमारी स्वतंत्र है। किन्तु स्वतंत्रता है कहां? इतने बंधे हुए हैं एक दूसरे से और इतने प्रभावित होते हैं एक दूसरे से कि स्वतंत्रता है कहां?

जस्टिस कृष्णा अय्यर ने ऐ बहुत महत्वपूर्ण बात कही थी 'लोग अपेक्षा करते हैं कि न्यायाधीश स्वतंत्र रहे, निष्पक्ष रहे। पर क्या वे इस सचाई को नहीं जानते कि न्यायाधीश भी एक समाज का आदमी होता है। न्यायाधीश के परिवार होता है। उसके मित्र होते हैं, सगे-संबंधी होते हैं, सलाहकार होते हैं और सबसे बड़ी बात है कि न्यायाधीश के अपने संस्कार होते हैं, अपनी रुचियां होती हैं और अपने विचार होते हैं। इतने प्रतिबंधों से प्रतिबद्ध आदमी से आशा की जाए कि वह स्वतंत्र हो, निष्पक्ष हो, उसका निर्णय स्वतंत्र हो, निष्पक्ष हो, क्या यह अपेक्षा रखना भी औचित्यपूर्ण बात होगी? कभी नहीं। जब तक आदमी प्रतिबंधों से बंधा हुआ है तब तक संभव नहीं कि वह स्वतंत्र बन सके।'

स्वतंत्र व्यक्ति के निर्माण की एक ही व्यवस्था हो सकती है और वह है अन्तर्दृष्टि का शिक्षा का अनुशीलन, ध्यान का अभ्यास। जब अन्तर्दृष्टि जाग जाती है तब सारे प्रतिबंध अपने आप शिथिल हो जाते हैं।

बुढ़िया बैठी थी। ऊपर घड़ी टंगी थी। बुढ़िया उठी, एक क्षण बीता होगा, घड़ी नीचे गिर गई। पुत्रवधु बोली अपने पति से कि कितना अच्छा हुआ, मां अभी उठी और एक क्षण के बाद घड़ी गिरी। अगर पहले गिर जाती तो क्या होता? सिर फूट जाता। पति बोला 'तुम नहीं समझती, इस घड़ी की

यही आदत है। सदा लेट चलती है तो आज लेट कैसे नहीं होती ?

आज विज्ञान के पूरे विकास के साथ, लौकिक विद्याओं के पूरे विकास के साथ, मनुष्य स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना कर रहा है। यह ठीक समय है कि वास्तव में स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अध्यात्म को जोड़ा जाए, ध्यान को जोड़ा जाए। अगर ऐसा नहीं होगा तो यह घड़ी भी लेट चलेगी और गिरेगी तो लेट गिरेगी।

मानसिक समस्या और शिक्षा

शक्ति और स्वास्थ्यद्वये दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। मनुष्य शक्ति-सम्पन्न होता है तो स्वास्थ्य अच्छा होता है। स्वास्थ्य अच्छा होता है तो शक्ति बढ़ती जाती है। दोनों का परस्पर संबंध है। एक से काम पूरा नहीं होता। शक्ति आती है शोधन के द्वारा। स्वास्थ्य उपलब्ध होता है शोधन के द्वारा। जितना अच्छा शोधन होगा उतनी शक्ति बढ़ेगी। प्राकृतिक वस्तुएं आरंभ में अशुद्ध होती हैं। जब तक उनका शोधन नहीं होता, उनका सही मूल्य नहीं हो सकता। जितने खनिज और खनिज धातुएं हमारे सामने आती हैं उनका मूल्य तब बढ़ता है जब उनका शोधन हो चुका होता है।

शोधन और पोषणद्वये दोनों प्रक्रियाएं साथ साथ चलती हैं, तब सारे कार्य सम्पन्न होते हैं।

ध्यान शोधन की भी प्रक्रिया है और पोषण की भी प्रक्रिया है। इसीलिए यह हमारी शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है।

शिक्षा की समस्या तब तक समाहित नहीं हो सकेगी जब तक उसके साथ अध्यात्म-विद्या नहीं जुड़ेगी, ध्यान का प्रशिक्षण नहीं जुड़ेगा। हमारी जो चालू शिक्षा है उसमें शरीर के लिए बहुत व्यवस्था है। रोटी चाहिए उसके लिए व्यवस्था है। कपड़ा चाहिए उसका ज्ञान भी कराया जाता है। और-और पदार्थ चाहिए, उसके लिए भी सारी व्यवस्था है। शरीर को सुविधा देने की पूरी व्यवस्था की गई है, किन्तु शरीर के साथ जुड़ा हुआ है मन। मन के साथ काफी उपेक्षा भी बरती गई है।

हम प्रायः स्थूल बुद्धि से काम लेते हैं। हमारी सूक्ष्म बुद्धि काम भी नहीं करती और इसलिए नहीं करती कि हम शरीर को केन्द्र में मानकर चल रहे हैं। अगर शरीर परिधि में हो तो कोई कठिनाई नहीं। किन्तु शरीर को जब केन्द्र में रखकर सारी समस्याओं पर सोचते हैं और उनका समाधान निकालने का प्रयत्न करते हैं तो समस्याएं उलझ जाती हैं, उनका समाधान नहीं होता। समस्या के समाधान का रास्ता यह है, चेतना केन्द्र में रहे, दूसरी सब बातें

परिधि में रहें। चिन्तन का कोण यह हो कि इस प्रवृत्ति की चित्त पर प्रतिक्रिया क्या होगी? जो काम किया जा रहा है, वर्तमान में बहुत अच्छा लग रहा है, पर चित्त पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? क्या परिणाम होगा? हमारी चेतना पर इसके क्या संस्कार जमेंगे और उनके क्या प्रतिफलन होंगे? यह चिन्तन का दृष्टिकोण समस्याओं को सुलझाने वाला दृष्टिकोण है और शरीर को केन्द्र में रखकर सोचने का दृष्टिकोण समस्याओं को उलझाने वाला दृष्टिकोण है।

समाचार-पत्र में पढ़ाहहिन्दुस्तान में दस व्यक्तियों के पीछे एक पागल है। काफी बड़ी संख्या है पागलों की! दस के पीछे एक पागल! हिन्दुस्तान के बाहर तो और भी ज्यादा मिल सकते हैं, पर हिन्दुस्तान में यह स्थिति हो रही है। पागलपन क्यों? किसलिए? आदमी क्यों पागल बनता है? यह तो शायद उन पागलों के संख्या है, जो अपना पूरा नियंत्रण खो चुके हैं, मस्तिष्क का पूरा संतुलन जिनका बिगड़ चुका है। यदि अधूरे पागलों की संख्या की जाए तो दस प्रतिशत नहीं, कम से कम पचास प्रतिशत होगी। यह स्थिति इसलिए बन रही है कि हमने मन की समस्याओं को गौण कर दिया। आज शिक्षा के सामने एक प्रश्न है मानसिक समस्याओं का। जिस शिक्षा के द्वारा हमारी मानसिक समस्याओं का समाधान नहीं होता वह शिक्षा हमारे लिए वरदान नहीं बनती। केवल पदार्थ मिल जाए, मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए, मानसिक विकास हो जाए, बौद्धिक विकास हो जाए, इतना ही पर्याप्त नहीं है। मानसिक विकास होना एक बात है और मानसिक समस्याओं का समाधान कर पाना दूसरी बात है। मानसिक विकास होता है, स्मृति बढ़ती है, चिन्तन और कल्पना की शक्ति बढ़ती है। एक अनपढ़ आदमी जहां परिकल्पना नहीं कर सकता, योजना नहीं बना सकता वहां एक शिक्षित व्यक्ति अच्छी कल्पना कर सकता है, सुन्दर योजना बना सकता है।

स्मृति की तीव्रता, चिन्तन की दक्षता और कल्पना की पटुता आ गई तो मानसिक विकास हो गया। दूसरा पहलू भी है इसका कि जितना मानसिक विकास होता है उतनी मानसिक उलझनें बढ़ती हैं। स्मृति भी कम मानसिक उलझन नहीं होती। पशु की स्मृति बहुत तात्कालिक होती है तो मानसिक उलझनें भी नहीं होती। बच्चे की स्मृति भी तात्कालिक होती है। बहुत लम्बे समय तक बात याद नहीं रहती। बच्चा एक मिनट में रो देता है और एक मिनट में हंस देता है। बड़ा ऐसा नहीं कर सकता, बच्चा कर सकता है। एक कोई चीज हाथ में थमा दो, शांत। छीन हो, रोने लग जाएगा। फिर दे दो, हंसने

लग जाएगा। एक मिनट में बच्चा दो-चार बार बदल जाता है। इसलिए कि उसकी स्मृति के तीव्रता अभी नहीं हुई है। स्मृति बहुत क्षणिक है बच्चे की। ऐसी स्मृति नहीं है कि एक बात को याद कर लिया तो कर ही लिया। दस वर्ष बीत जाए, घटना सामने आएगी तो तत्काल स्मृति दौड़ आएगी और कोई न कोई अवरोध पैदा हो जाएगा। स्मृति का भार आदमी ढोता है। स्मृति से वह दुःखी बनता है। स्मृति जहां मानसिक विकास है वहां स्मृति बहुत सारी समस्याओं का एक बहुत बड़ा कारण भी है।

चिन्तन भी विकास का मानदण्ड है, किन्तु चिन्तन समस्याएं पैदा करने वाला भी है। न जाने हमारी कितनी समस्याएं चिन्तन के द्वारा ही पैदा होती हैं। यदि अचिन्तन की बात हो तो समस्या नहीं होती। चिन्तन इतना होता है कि वह सोचना स्वयं समस्या बन जाता है और सोचना स्वयं समस्या पैदा करने लग जाता है। आदमी सोचता चला जाता है फिर भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता।

कल्पना जहां मानसिक विकास है वहां बहुत बड़े संकटों का कारण भी है। यदि कल्पना का संयम हो जाये तो बहुत सारी मानसिक समस्याएं सुलझ जाएं। कल्पना के द्वारा समस्याएं बहुत उलझती हैं। आदमी यथार्थ तक पहुंच नहीं पाता। जिस व्यक्ति में कल्पना की ज्यादा आदत हो जाती है, वह बहुत दुःखी रहता है। दो व्यक्ति बात करते हैं। सोचता है, मेरे बारे में ही बात कर रहे हैं। कहीं देख लिया अपने प्रिय व्यक्ति को अपने अप्रिय के साथ तो सोचता हैहयह तो मेरे हाथ से चला गया। लगता है कि यह कोई जाल बिछा रहा है। एक सामान्य बात कोई दूसरा व्यक्ति कह दे, जिसके प्रति बहुत प्रियता का भाव नहीं है, तो सोचेगा ऐसी बात कही है तो जरूर इसके पीछे कोई न कोई कारण होना चाहिए। किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित तो नहीं है? किसी ने सिखाया है, इसलिए ऐसा कह रहा है। न जाने कितना बड़ा जगत् हमारे सामने आता है। कल्पना बहुत भयंकर होती है। वह व्यक्ति को अत्यधिक सताती है।

काल्पनिक समस्याएं जटिल भी होती हैं। यदि वास्तविक समस्याएं हों तो सुलझाने में बहुत समय नहीं लगेगा। किन्तु हमारी समस्या ही जब काल्पनिक बन जाती है तो फिर सुलझाने का रास्ता भी जटिल हो जाता है।

यात्रा हो रही थी रेल की। बहुत यात्री बैठे थे। गाड़ी तेज चल रही थी। एक आदमी खड़ा हुआ हुआ और डिब्बे में जो खिड़की थी, वह खोल दी। खोल कर आकर बैठा। दूसरा उठा और जाकर खिड़की को बंद कर दिया। वह

फिर खड़ा हुआ, सोचाहयह तो मेरा अपमान है। मैंने खिड़की खोली और उसने बंद कर दी। यह कैसे हो सकता है? वह बैठा और यह उठा। उसने फिर खोल दी। फिर वह कैसे चुप रहने वाला था। एक बंद करता है, दूसरा खोल देता है। नाटक शुरू हो गया, यात्रियों के लिए मनोरंजन शुरू हो गया। सचमुच नाटक खेला जा रहा है। खिड़की खुल रही है और खिड़की बंद हो रही है। लोग सारे तंग हो गए। टी.टी. आया, आकर बोलाह महशय! यह क्या कर रहे हैं? यह क्या तमाशा है? क्यों बार-बार खोल रहे हैं, क्यों बार-बार बन्द कर रहे हैं? उसने कहाह 'क्यों नहीं खोलूं, मुझे गर्मी लग रही है। मैं गर्मी से बुरी तरह परेशान हो रहा हूं। खिड़की खोलूंगा।' दूसरे से कहा, 'भई! तुम क्यों बन्द करते हो? इसे गर्मी लगती है तो खुला रहने दो, तुम्हें क्या आपत्ति है?' उसने कहाह 'ठंडी हवा आती है, अच्छा नहीं लगता मुझे। कहां है गर्मी? टी.टी. खिड़की के पास गया। खिड़की को देखकर बोलाह 'अरे, कैसी ठंड और कैसी गर्मी? खिड़की के शीशा तो है ही नहीं? कोरा ढांचा खड़ा है।' खिड़की में शीशा गायब था। यह थी कल्पना की ठंड और यह थी कल्पना की गर्मी।

हम यदि सचमुच अध्ययन करें तो पता चलेगा कि प्रायः समस्याएं काल्पनिक होती हैं। चाहे पारिवारिक हों, चाहे संस्थागत हों, चाहे राष्ट्रगत हों, अधिकांश कल्पनाएं यथार्थ नहीं होती और वे समस्याएं बन जाती हैं। वास्तविक समस्याएं बहुत थोड़ी होती हैं। पिता के मन में पुत्र के प्रति कल्पना ज्यादा काम करती है। अच्छा मानता है, बुरा मानता है उसके पीछे कल्पना का बहुत बड़ा हाथ होता है। चाहे भाई-भाई का संबंध या अन्य कोई भी संबंध हो। जहां दो जुड़ते हैं उनके बीच में कल्पना की एक दीवार हमेशा रहती है। वह कल्पना की दीवार टूट जाए, व्यक्ति साक्षात् हो जाए तो पता चलेगा कि समस्याएं तो बहुत कम हैं।

कल्पना का विकास होना मानसिक विकास है तो कल्पना का होना मानसिक समस्याओं का होना भी है। विकास के साथ समस्याएं पैदा होती हैं। आग के साथ धुआं भी पैदा होता है, उसे रोका नहीं जा सकता। यह अनिवार्यता है। समस्याएं पैदा होती हैं। उन समस्याओं से निपटने के लिए हमारी लौकिक शिक्षा में कोई व्यवस्था नहीं है। यह शिक्षा का एकांगीपन है। शिक्षा यदि सर्वांगीण होती तो अध्यात्म की शिक्षा, ध्यान की शिक्षा उससे पृथक् नहीं होती। अपने जीवन को समझने के लिए, अपने मन की समस्या को समझने के लिए और अपनी मानसिक समस्या का समाधान खोजने के

लिए जो चाहिए, वह हमारी शिक्षा में नहीं है।

समस्याओं का समाधान होता है परिवर्तन के द्वारा। परिवर्तन होना चाहिए। केवल शाब्दिक परिवर्तन नहीं, जो हमारे भीतर है वह बदलना चाहिए। जो हमारे जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है, उसमें परिवर्तन आना चाहिए। दर्शन की भाषा में कर्म का विपाक, प्राचीन योग की भाषा में अमृत, सोमपान और आज की भाषा में अंतःस्वावी ग्रन्थियों का सावह्यह मनुष्य को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। कर्म का विपाक जिस क्षण में आता है व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसीलिए कोई आदमी एक जैसा नहीं होता। पत्थर का टुकड़ा लंबे समय तक वैसा ही मिल सकता है पर कोई भी चेतन प्राणी और विशेषतः मनुष्य एक जैसा नहीं मिलता। प्रातःकाल में मनुष्य का जैसा चित्र था, अब ३.३० बज रहे हैं, इस अवधि में हजारों मनुष्य पैदा हो गए। मनुष्य में हजारों मनुष्य पैदा हो गए। न प्रजनन की जरूरत, न माता-पिता की जरूरत, न कृत्रिम गर्भाधान की जरूरत। आदमी में हजारों आदमी एक दिन में पैदा हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को सूर्योदय के समय देखा, उस व्यक्ति का फोटो लिया जाए, दो मिनट के बाद उस व्यक्ति को देखा जाए और उसका फोटो लिया जाए तो पता चलेगा कि यह तो दूसरा आदमी है। इतना भीतर में बदल रहा है कि चेतना के लिए कोई नियंत्रण नहीं किया जा सकता, नियम नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान ने पदार्थ-जगत् के लिए बहुत सारे नियम खोजे हैं किन्तु प्राणी-जगत् के लिए उनके नियम काम नहीं दे रहे हैं। इतना बड़ा परिवर्तन होता है कि प्राणी की एकरूपता की व्याख्या नहीं की जा सकती। यही मनुष्य की स्वतंत्रता है। वह जड़ पदार्थ नहीं जो ढेले की भांति फेंकने पर ऊपर चला जाए और वापस नीचे गिर जाए। नीचे गिरे तो पड़ा रहे। मनुष्य जड़ नहीं है। जड़ का नियम एक होता है और चेतन का नियम दूसरा होता है। चेतन में स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसकी स्वतंत्र सत्ता होती है। जब अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है, उस समय कोई उसके लिए सार्वभौम नियम काम नहीं देता। जो सर्वथा परतंत्र है, जिनमें अपनी क्षमता नहीं, अपनी स्वतंत्रता नहीं, उन्हें नियम के द्वारा बांधा जा सकता है और उनके लिए कोई सार्वभौम नियम बन सकता है, किन्तु स्वतंत्रता से परिवर्तित होने वाले मनुष्य के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बन सकता।

मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता है। उस स्वतंत्रता को उभारना, उसे विकसित करना, यह ध्यान की शिक्षा का मुख्य तत्त्व है। ध्यान करने का अर्थ केवल आंखें बंद कर बैठ जाना ही नहीं है। केवल कुछ क्षणों के लिए विश्राम

ले लेना ही नहीं है, केवल मानसिक भार को कम कर देना मात्र नहीं है। ऐसी बातें होती हैं, किन्तु ये मुख्य लक्ष्य नहीं हैं। ध्यान की शिक्षा, ध्यान के अभ्यास का मुख्य लक्ष्य हैहृत्चेतना की स्वतंत्रता को अनन्त आयाम देना। इतना बड़ा आयाम देना कि हमारी जो स्वतंत्रता है उसके सारे बंधन टूट जाएं और पूरी स्वतंत्रता अपने पूरे रूप में विकास पा सके। इसके लिए आन्तरिक स्रावों पर अनुशासन करना बहुत जरूरी है।

कई लोग इन दिनों मेरे पास आए, बोले, क्रोध आता है तो इतना भयंकर आता है कि फिर पता नहीं रहता है कि सामने क्या है? चाहे परिवार के आदमी हों, चाहे माता-पिता हों, चाहे दूसरे कोई संबंधी, जिस क्षण गुस्सा आता है सारा भान भूल जाते हैं। यह समस्या क्यों? यह हमारी अपनी समस्या है। कोई ऐसा निमित्त मिला कि हमारी एड्रीनल ग्रन्थि ज्यादा स्राव करने लग गई। जब-जब उसका स्राव मात्रा से अधिक बढ़ता है, गुस्सा फूट पड़ता है। बहुत बार अप्रिय घटना होने पर आदमी गुस्से में आता है किन्तु कभी-कभी सामने कोई बड़ी घटना नहीं होती फिर भी भयंकर गुस्सा आ जाता है। उस ग्रन्थि का स्राव जैसे बढ़ा, घटना घट गई। कुछ डॉक्टरों ने प्रयोग किया, एक बन्दर की एड्रीनल में कोई इंजेक्शन लगाया, स्राव बढ़ाया। जैसे ही एड्रीनल का स्राव बढ़ा, बन्दर गुस्से में लाल-पीला हो गया। जैसे ही एड्रीनल को शान्त किया, गुस्सा एकदम शान्त। हमारी सारी वृत्तियां नाभि के आसपास सक्रिय होती हैं। यह भोजन को पचाने का, प्राणशक्ति को पैदा करने का स्थान है तो साथ-साथ भय, वासना, क्रोध, अहंकार, लोभ, निन्दा, ईर्ष्याह इन सबको पचाने और इन सबको पैदा करने का भी यही स्थान है। यदि पेट ठीक हो जाए तो दोनों बातें ठीक हो जाती हैं। शरीर के स्वास्थ्य का मुख्य संबंध है हमारे पेट से और मन के स्वास्थ्य का भी मुख्य संबंध है हमारे पेट से। यदि पेट वास्तव में ठीक रहता है तो दोनों बातें ठीक हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि पेट को ठीक करने का अर्थ हैहृत्भोजन को ठीक करना। भोजन ठीक नहीं है तो पेट ठीक नहीं है और पेट ठीक नहीं है तो स्वास्थ्य ठीक नहीं है। पेट ठीक नहीं है तो मन की स्थिति भी ठीक नहीं है।

समस्याओं का समाधान अपने स्रावों में खोजना होगा। जैन आचार्यों ने इस समाधान को खोजा और उन्होंने विस्तार के साथ कर्म-विपाकों का वर्णन किया। इतना बड़ा वर्णन भारतीय साहित्य में तो क्या, विश्व साहित्य में भी नहीं मिलता। यह कर्म-विपाक आज के विज्ञान की भाषा में अन्तःस्रावी ग्रंथियों का स्राव है। रसायन है कर्म काहृत्अनुभव बंध। कर्म का जो रस आता

है बाहर, वह हमारी चेतना को प्रभावित करता है। वह रस आता है, ग्रन्थियों के माध्यम से। हठयोग ने इसे अमृत कहा है। गोरक्ष पद्धति में, हठ-योग के अन्य ग्रन्थों में अमृतपान और सोमरस की चर्चा मिलती है। सोमरस क्या है? यह है हमारे मस्तिष्क से होने वाला स्राव। तालु की समरेखा में अमृत का स्राव होता है, यह गोरक्ष पद्धति का एक उल्लेख है। यह स्राव पीनियल का स्राव है, पिच्यूटरी का स्राव है, क्योंकि समरेखा में ये दोनों प्रकार के स्राव होते हैं। ये स्राव हमें प्रभावित करते हैं। आज का शरीरविज्ञानी बतलाएगा कि जब तक हार्डपोथेलेमस, पिच्यूटरी या पीनियल से हारमोंस का स्राव नहीं होता तब तक एड्रीनल, गोनाडसह्ये ग्लेण्ड्स कुछ भी काम नहीं कर पाएंगे। ये वहां से अपना स्राव करते हैं, तब एड्रीनल में वृत्तियां जागती हैं और गोनाड्स में वासना जागती है। काम का होना, वृत्तियों का विकसित होनाहदोनों इन पर निर्भर है, किन्तु ये निर्भर हैं ऊपर के स्रावों पर। उन स्रावों पर जब अनुशासन हो जाता है तब वृत्तियों पर अनुशासन हो सकता है।

मेरा अपना अनुभव और चिन्तन यह है कि हजार बार कहने से जो काम नहीं होता वह एक स्राव को बदल देने से हो सकता है। हजार बार कहा जाए कि गुस्सा मत करो, फिर भी गुस्सा छुड़ाने में सफलता नहीं मिलती, जब तक भीतर का स्राव नहीं बदल जाता। बेचारा करे क्या? स्राव इतना प्रभावित करता है मस्तिष्क को कि जो बात शिक्षा की कही जाती है वह तो टिकती नहीं, कहीं चली जाती है। उसे स्थान ही नहीं मिलता। एक भाई ने बताया कि पांच, दस दिन होते हैं, दिमाग में एक भार-सा हो जाता है, तनाव-सा हो जाता है, बहुत गुस्सा आने लग जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि भीतर के स्रावों का संतुलन नहीं है। हमारी ग्रन्थियों के स्राव का संतुलन बिगड़ा हुआ है। किन्हीं वृत्तियों के कारण यदि बार-बार ध्यान पेट पर, पेड़ पर, नाभि पर या पेट के नीचे के भाग पर जाएगा तो ग्रन्थियों का संतुलन बिगड़ जाएगा। आज के डॉक्टर, आज के वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि अच्छे और बुरे विचार के द्वारा ग्रन्थियों में असंतुलन पैदा होता है। बुरे विचार होते हैं तो भी संतुलन बिगड़ जाता है, अच्छे विचार होते हैं तो भी संतुलन नहीं रहता, किन्तु हानि नहीं होती। बुरे विचारों से स्राव बिलकुल दूसरे प्रकार के होंगे। ज्यादा डर लगता है तो हमारा सेंट्रल नर्वस् सिस्टम बिलकुल असंतुलित हो जाता है। क्रोध की मात्रा ज्यादा होती है तो सारा ग्रन्थितंत्र अस्त-व्यस्त हो जाता है, मस्तिष्क के स्नायु भी अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इनका संबंध जुड़ा हुआ है विचारों के साथ। बुरे

विचार को छोड़ना केवल धर्म और अध्यात्म की ही बात नहीं है किन्तु अपने स्वास्थ्य की भी बात है।

जैन आचार्यों ने इस पर बहुत विचार किया और उन्होंने एक कारण बतलाया कि हृदय का अवरोध क्यों होता है? हार्ट की बीमारी ज्यादा क्यों होती है? उसका मुख्य कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि मानसिक उपघात के द्वारा हृदय की बीमारियां होती हैं। मानसिक क्षोभ और मानसिक आघात जितना ज्यादा होता है उतना ही हृदय पर ज्यादा दबाव पड़ता है। हृदय अपना काम करने से नहीं थकता किंतु मानसिक दबाव उस पर इतना भार डालता है कि हृदय बेचारा सक्रिय हो जाता है।

विचार हमें प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार का हमारा विचार होता है उस प्रकार के परमाणुओं का हम आकर्षण करते हैं। बुरा विचार होता है तो बुरे विचार के परमाणु आते हैं, अच्छे विचार होते हैं तो अच्छे विचारों के परमाणु आते हैं। बुरे प्रकार के परमाणु सबसे पहले हृदय पर आघात पहुंचाते हैं, चोट पहुंचाते हैं। हृदय बैठ जाता है। बुरे विचारों को बदलना और अच्छे विचारों को लाना बहुत अच्छी बात है। पर कैसे आएँ? दुनिया में सबसे बड़ा प्रश्न है कैसे और क्या? इनकी व्याख्या तो बहुत मिलती है हमारे शाब्दिक जगत् में, किंतु कैसे हो, इसकी चर्चा शाब्दिक जगत् में कम है, अनुभव के जगत् में ज्यादा है। साव को बदलने का बहुत सीधा-सा उपाय है हृदयदीर्घश्वास का प्रयोग शुरू करो, साव बदलने लग जायेगा। श्वास की क्रिया जैसे-जैसे मंद होती है हमारी चेतना वर्तमान में आ जाती है। चेतना को वर्तमान में लाने का बहुत अच्छा साधन है हृदयदीर्घश्वास का अभ्यास।

श्वास वर्तमान में होता है। यदि कोई आदमी पीछे से आकर नाक बंद कर दे तो वह कहेगाहमले आदमी! मेरा नाक क्यों बंद करते हो? श्वास लेने में मुसीबत आ रही है। वह कहेगा, अरे! दो मिनट पहले श्वास ले रहे थे, एक मिनट पहले श्वास ले रहे थे, एक घंटे से श्वास ले रहे हो, अब नहीं लो तो क्या बात है? क्या यह तर्क चल सकता है? यह तर्क कारगर नहीं होता क्योंकि श्वास सदा वर्तमान का होता है। भोजन दो घंटा पहले किया, अभी आपको भूख नहीं लग रही है, क्योंकि भोजन का प्रभाव अभी बचा हुआ है। अतीत का भोजन भी काम देता है और कुछ लोग इसीलिए ज्यादा खा लेते हैं कि फिर खाना नहीं पड़ेगा। रेगिस्तान में ऊंट पानी का भी संग्रह कर लेते हैं। भोजन संग्रह की थैलियां भी होती हैं पशुओं में। पशु बहुत देर तक चबाते हैं खाए हुए भोजन को। पर श्वास में यह तर्क नहीं चलता कि तुमने दो मिनट

पहले तो श्वास लिया था, अब नहीं लगे तो क्या होगा? एक मिनट पहले श्वास लिया वह श्वास चला गया, अभी वर्तमान में श्वास चाहिए। जिस क्षण में श्वास नहीं मिलता, आदमी छटपटाने लग जाता है। श्वास वर्तमान का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व करने वाला तत्व है। वर्तमान में जीने का सबसे पहला सूत्र है श्वास। जिस व्यक्ति ने श्वास को पकड़ा उसने अपनी चेतना को वर्तमान का आयाम दे दिया। जिसकी चेतना वर्तमान में रहेगी वह न अतीत की स्मृतियों में उलझेगी, न भविष्य की कल्पना में उलझेगी। जिसकी चेतना वर्तमान में रहने लग गई, उस व्यक्ति ने अपने स्रावों पर नियंत्रण की चाबी अपने हाथ में ले ली। वह जब चाहे स्रावों को बदल सकता है। जब लगे कि वासना जाग रही है तो तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू करो, पीनियल और पिच्यूटरी को वर्तमान की स्थिति में ले आओ, सब वासना समाप्त हो जाएगी। उस समय न प्रियता का संवेदन, न अप्रियता का संवेदन, केवल अपने अस्तित्व का अनुभव शेष रहेगा। प्रत्येक वृत्ति के जागरण के समय, प्रत्येक कामना, वासना और तुच्छता की भावना के समय यदि दीर्घश्वास, शरीर-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा और विशेषतः नासाग्र, भ्रुकुटि और ललाट का मध्यभागहइन पर चेतना को केन्द्रित करें तो स्राव बदल जाते हैं।

जो काम विचार नहीं कर सकते वह वर्तमान की चेतना कर सकती है, चित्त कर सकता है। चेतना का जैसे ही परिवर्तन हुआ, स्राव का परिवर्तन हो जाएगा और स्राव का परिवर्तन हुआ तो वृत्तियों का परिवर्तन हो जाएगा। इस पूरे परिवर्तन के लिए मानसिक समस्याओं को, उनके स्वरूप, उनकी क्रिया, उनके स्रोत, उनके पीछे रहे हुए स्राव को समझना और स्राव को बदलने की प्रक्रिया को समझना होगा, यह पूरी श्रृंखला जब हमारे हाथ में आती है, उस स्थिति में हम कह सकते हैं कि ध्यान का अभ्यास करने वाला अपना भाग्य-विधाता एवं अपने व्यक्तित्व का निर्माता बन जाता है। वह जब जैसे चाहे अपने जीवन की यात्रा का आगे बढ़ा सकता है और उसमें आने वाली सारी बाधाओं को पार कर सकता है। इसके लिए आवश्यकता है शरीर का शिथिलीकरण, मौन, मन की एकाग्रता और निर्विचारता। जो निर्विचारता का मूल्य होता है वह विचार का नहीं होता, जो विचार का होता है वह भाषा का नहीं होता और जो भाषा का होता है वह क्रिया का नहीं होता। निर्विचारता की स्थिति चेतना की सबसे बड़ी स्थिति है।

एक आदमी पक्षियों के बाजार में गया। वह तोता खरीदना चाहता था। एक दुकानदार से पूछाहतोते का मूल्य क्या है? उसने कहाहइसका मूल्य सौ

रुपया है, क्योंकि यह सब भाषाओं में बोलता है।

दूसरे तोते की ओर संकेत करते हुए पूछाहइसका मूल्य क्या है? 'पांच सौ रुपये।' 'अरे! पांच सौ रुपये? विशेषता क्या है?' दुकानदार ने कहाह'हमारा तोता तत्त्वज्ञानी है। चिन्तन बहुत करता है, बोलता कम है, सोचता ज्यादा है। अतः इसके पांच सौ रुपये हैं।' पिंजरे में बंद तीसरे तोते की चर्चा करते हुए दुकानदार ने कहाह 'यह तीसरा तोता है जो न बोलता है, न सोचता है, मृतवत् पड़ा-पड़ा आकाश को देखता रहता है। यह योगी-सा है। उसका मूल्य है हजार रुपया। उसकी निर्विचारता, अचिन्तन और अभाषणहसब मूल्यवान हैं।

आदमी ने सोचा, पक्षी की यह निर्विचारता मूल्यवान् हो या नहीं, आदमी की निर्विचारता की स्थिति, निर्विकल्प रहने की स्थिति अवश्य ही मूल्यवान् है।

जीवन विज्ञान और अन्तर्दृष्टि के प्रयोग

पानी पीया जाता है जब प्यास होती है। प्यास के बिना भी पानी पीया जाता है, पर वह पानी नहीं होता जो प्यास के समय पीने वाला पानी होता है। प्यास लगे, यह बहुत जरूरी है। यदि प्यास न लगे तो शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती। शरीर में बहुत सारे मैल जम जाते हैं, पानी से उनका शोधन हो जाता है। शरीर के आन्तरिक अंगों को अपना काम करने के लिए पानी की जरूरत होती है। शरीर को लचीला रखने के लिए पानी की जरूरत होती है। पानी की शरीर को जरूरत है और उस जरूरत की पूर्ति प्यास के द्वारा होती है।

मन की शुद्धि भी प्यास के द्वारा होती है। जब तक प्यास नहीं जागती, पानी नहीं पिया जाता, मन की शुद्धि नहीं होती। प्रेक्षाध्यान उस प्यास का उत्तर है। ध्यान एक पानी है जो मन पर जमे हुए सारे कषाय के मैलों को दूर करता है। मन की बहुत सूक्ष्म रचना है और उसमें बहुत सारे सूक्ष्म मैल प्रतिदिन जमते रहते हैं। शरीर का शोधन जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है मन का शोधन, मस्तिष्क का शोधन।

एक भाई ने कहाह्रशंख प्रक्षालन की क्रिया वर्ष में दो बार कर लें तो बहुत सारी बीमारियां टल जाएंगी। क्रिया कठिन है, बिना देख-रेख के नहीं होनी चाहिए। अच्छी क्रिया होने का मतलब यह नहीं कि वह ज्यों-त्यों कर ली जाए। वह तब की जाए जब उसकी पूरी पद्धति ज्ञात हो जाए। दो बार शंख प्रक्षालन की क्रिया करने से जितना जमा हुआ मैल होता है शरीर में, वह सारा मल, कफ निकल जाता है और शरीर बिलकुल हलका हो जाता है। जिन आंतों को प्रतिदिन मैल का भार ढोना पड़ता है, वे स्वच्छ हो जाती हैं, उनका मैल धुल जाता है।

पुराने जमाने में जुलाब लिया जाता थाह्रह्रह-महीने से, वर्ष में दो बार। आचार्य कालूगणीजी अपने साधु-साध्वियों को वर्ष में दो बार जुलाब का प्रयोग कराते थे और स्वयं भी करते थे कभी-कभी। उससे जब एक बार

शोधन हो जाता है तो आकस्मिक बीमारी के बहुत सारे खतरे टल जाते हैं, या भीतर में मैल जमा होने के कारण जो बीमारियां होती हैं वे टल जाती हैं। आजकल शोधन की बात कुछ गौण हो गई। आयुर्वेद का विज्ञान था कि शोधन किया जाए और फिर दवा ली जाए। अब दमन की बात है, शोधन की बात नहीं है। कहा जाता है इतनी तेज दवा लो कि जो कुछ है, वह दब जाए। दब तो जाएगा, पर वह मिटेगा नहीं। ऊपर से क्यूरे हो रहा है, किन्तु जो भीतर में दबा हुआ है वह भी तो अपना प्रभाव जमाएगा। जैसे ही कोई अवसर मिलेगा, वह एक साथ फूट पड़ेगा।

वात, पित्त और कफहृये शरीर के तीन दोष माने जाते हैं। मानसिक दृष्टि से देखें तो मानसिक जगत् में भी वात, पित्त और कफ होते हैं, क्रोध, उत्तेजना, ये मानसिक पित्त हैं। लोभ, लालच, आकांक्षा, ये मानसिक कफ हैं। प्रकृति दोनों की समान है। पित्त का काम हैहृगर्मी बढ़ाना, स्फूर्ति लाना, तेजी लाना। वही काम गुस्से का है। उससे भी स्फूर्ति आ जाती है, आंखें लाल हो उठती हैं, चेहरा भी तमतमा उठता है। कफ मृदुता लाता है। हमारे शरीर में जो लचीलापन, मृदुता, कोमलता, स्निग्धता है, वह कफ के कारण है। यदि कफ की कमी हो जाए तो कोई आदमी बौद्धिक काम नहीं कर सकता। इसकी प्रकृति लालच की प्रकृति है।

तीसरा दोष है वात। मानसिक जगत् में जो चंचलता है, जो प्रेरणा है वह वात है। सारी प्रेरणा वायु से मिलती है। यदि हमारे शरीर में वायु न हो, आदमी चल भी नहीं सकता। कोई प्रेरणा नहीं हो सकती, कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शरीर में रक्त संचार होता है, उसके पीछे भी वायु का योग होता है। वात, पित्त और कफहृये सारे वायु के द्वारा संचालित होते हैं। शारीरिक जगत् में जिस प्रकार तीन दोष होते हैं वैसे ही मानसिक जगत् में भी तीन दोष होते हैं। इन तीन दोषों का संतुलन बिगड़ता है तो शरीर में बीमारी पैदा होती है। मानसिक जगत् में भी संतुलन बिगड़ता है तो बीमारियां पैदा होती हैं।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा हमें मानसिक दोषों को समझना है। उनकी प्रतिक्रियाओं और परिणामों को जानना है। उन्हें जानकर ही हम मानसिक स्वास्थ्य का जीवन जी सकते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत सारे केन्द्र हैं किन्तु मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत सारे कन्द्र नहीं हैं। इस विद्या पर हमारा ध्यान नहीं है, क्योंकि लौकिक शिक्षा के द्वारा एक दृष्टिकोण बन गया कि समस्या पदार्थ जगत् से पैदा होती है। समस्या का समाधान भी पदार्थ जगत् में ढूंढना होगा। पदार्थ जगत् की सीमा को छोड़कर हम न

समस्या पर विचार करते हैं और न समाधान पर। समस्या और समाधान दोनों का स्रोत हैह्यपदार्थ का जगत्। चेतना के जगत् से तो जैसे हमारा कोई वास्ता ही नहीं है। न समस्या के बारे में हम चेतना पर विचार करते हैं और न समाधान के लिए वहां खोज करते हैं। शरीर में बीमारी पैदा होती है। सीधा ध्यान डाक्टर और दवा पर जाता है। कभी हम इस बात को नहीं सोचते कि बीमारी का कारण भीतर भी हो सकता है, बीमारी का समाधान भीतर में भी मिल सकता है। हमारी दृष्टि भी नहीं जाती और इसलिए नहीं जाती कि हमें जीवन-विज्ञान की शिक्षा उपलब्ध नहीं है। जीवन-विज्ञान शिक्षा की महत्त्वपूर्ण अंग है। विश्वविद्यालयों में हायर स्टडीज के प्रयोग चलते हैं, उच्चतम अध्ययन की सुविधाएं मिलती हैं, किन्तु उच्चतम अध्ययन, उन्हीं शाखाओं का, जो शाखाएं हमें बाहर की ओर ले जाती हैं, दृष्टि को बाहर ही अटका देती है। यह अध्यात्म-विद्या उससे एक अगला कदम है। यह शिक्षा को सर्वांगीण बनाने का उपाय है। हम शिक्षा को सर्वांगीण बनाएं, अपनी दोनों आंखों से काम लें और अपने दोनों पैरों से चलें। समस्या है तो उसका मूल स्रोत बाहर भी खोजें और भीतर भी खोजें। केवल अटके नहीं। बाहर भी न अटके और भीतर भी न अटके। बाहर और भीतरहदोनों सीमाओं पर जाएं, दोनों सीमाओं का अध्ययन कर समस्या को समझें और उसका समाधान खोजें।

मानसिक दृष्टि से विस्मृति का विचित्र रोग होता है। आदमी बहुत भूल जाता है। भूलने का कारण भी शायद यही होगा कि वह बाहर की ओर बहुत ज्यादा आकृष्ट होता है। बाहर में इतना खोजता है कि अपनी विस्मृति हो जाती है, अपने आसपास की विस्मृति हो जाती है और अपनी अन्वेषणीय वस्तु की विस्मृति हो जाती है।

आदमी बहुत तेजी से दौड़ा जा रहा था। पैदल नहीं, गधे पर चढ़ा हुआ दौड़ा जा रहा था। रास्ते में कोई मिला और बोलाहअरे भाई! इतने तेज दौड़ रहे हो, कहां जा रहे हो? वह बोलाहमेरा गधा खो गया, गधे को ढूंढने जा रहा हूं। गधे पर चढ़ा हुआ गधे को खोजने जा रहा था। यह है एक विस्मृति।

गोद में बच्चा है और बाहर ढूंढने जा रहा है। पूछाहकहां जा रहे हो? बच्चा खो गया, उसे ढूंढने जा रहा हूं। तुम्हारी गोद में क्या है? अच्छा, यह बच्चा है, पता ही नहीं चला मुझे।

यह पढ़कर हंसी आती है, पर इस प्रकार की आत्म-विस्मृतियां कौन नहीं करता? हर व्यक्ति करता है। अपने आपकी विस्मृति, अपने भीतर की विस्मृति, अपनी इच्छाओं की विस्मृति और अपनी बुराइयों की विस्मृति।

आदमी बुराई करता चला जाता है और पता ही नहीं चलता कि मैं कोई बुराई कर रहा हूँ। अच्छाई करता है, उसका भी पता नहीं चलता। अपने भीतर की शक्ति का भी पता नहीं चलता कि मैं क्या कर सकता हूँ? कुछ आदमी बड़े निराशा के गीत गाते हैं। वैसे लोगों से बात करो, सबसे पहले निराशा का स्वर सामने आएगा। जब-जब निराशा का स्वर सामने आता है तब ऐसा लगता है, रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति समाप्त हो गई है। केवल निषेधात्मक पक्ष बचा है। कभी बिजली जलेगी नहीं। प्रकाश के लिए दोनों शक्तियां चाहिए। निषेधात्मक शक्ति भी चाहिए और विधायक शक्ति भी चाहिए। विधायक शक्ति समाप्त हो जाती है तो फिर निषेधात्मक शक्ति से हमारा कोई काम सधता नहीं।

आज की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम अपनी शक्ति पर भरोसा खो बैठे हैं। हमारी सबसे पहली शक्ति है प्राणशक्ति। यह हमारे समूचे जीवन को संचालित करती है। हमें अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा नहीं है। हम कुछ जानते भी नहीं और कोई प्रयोग भी नहीं करते। बहुत सामान्य बात है। शरीर में कोई बीमारी पैदा हुई, दवाई लेते हैं। दवाई लेना कोई बुरी बात नहीं है। एक साधन है। जैसे भोजन करते हैं और एक मांग की पूर्ति करते हैं वैसे ही दवाई लेना कोई बुराई की बात नहीं होती। दवा ली। जो कुछ क्षति हो गई, उसकी पूर्ति कर ली। यदि हम भोजन को ही जीवन मान बैठें, भोजन को ही स्वास्थ्य देने वाला मान बैठें, तो बुराई हो जाएगी। दवा तब काम करती है जब प्राणशक्ति ठीक होती है। प्राणशक्ति का दीप जब टिमटिमाने लग जाता है तब कितनी दवाइयां लो, कोई काम नहीं करेगी। हमें ध्यान केन्द्रित करना है प्राणशक्ति पर। दूसरा नम्बर का ध्यान होना चाहिए दवा पर। दवा पहली बात नहीं है, दूसरी बात है। पहली बात है प्राणशक्ति। जब जब शरीर पर कोई आक्रमण हो, सर्दी का, बीमारी का, ज्वर का तो सबसे पहले हमारा ध्यान जाना चाहिए कि प्राणशक्ति में कहीं न कहीं असंतुलन हुआ है। बिजली की जो धारा चल रही थी, जो प्रवाह चल रहा था, कहीं अवरोध पैदा हुआ है। कहां खराबी हुई है, इस बात की ओर ध्यान जाए और सहायक सामग्रियों के रूप में दूसरे पदार्थ पर भी ध्यान जाए तो बात ठीक हो जाएगी।

कान से कम सुनाई देने लगा। डॉक्टर से पूछाहकोई उपाय है? डॉक्टर ने कहाहकोई उपाय नहीं है। आज के वैज्ञानिक-साधनों से सम्पन्न डॉक्टर अगर यह कहे कि कान से सुनने का कोई उपाय नहीं है, इसका मतलब है कि बाहर की शक्ति व्यर्थ है। जो कान की आन्तरिक शक्ति थी वह अब समाप्त

हो रही है। इसलिए दवा अब कोई काम नहीं करेगी। आंख बिलकुल ठीक देख रही है। साफ, स्वच्छ और निर्मल किन्तु ज्योति समाप्त। डॉक्टर से पूछा कि ज्योति कहां चली गई है? बस, भीतर के स्नायु सिकुड़ गए, आंख ठीक है पर ज्योति चली गई। आंख ठीक है फिर भी दिखाई नहीं देता। कान का पर्दा ठीक, फिर भी सुनाई नहीं देता। बाहरी आकार ठीक है, संरचना ठीक है किन्तु भीतर में कोई गड़बड़ी हो गई। यहां भीतर में प्रवेश करने का द्वार हमारे सामने आता है। यह देखने की शक्ति दो भागों में बंटी हुई है। जैन आचार्यों ने इसे कहाल्लनिर्वृत्ति इन्द्रिय और उपकरण इन्द्रिय। एक है निर्वृत्तिहइन्द्रिय की संरचना, उसका आकार और दूसरा है उपकरण इन्द्रियहअपने विषय को ग्रहण करने वाली शक्ति। यदि विषय को ग्रहण करने वाली भीतर की शक्ति चुक जाती है तो बाहर का आकार कितना ही सुन्दर रहे, कोई काम नहीं होता।

शक्ति हमारी भीतर की होती है। बाहर से तो कोरा उसे थोड़ा पोषण मिलता है, सहारा मिलता है। शक्ति का स्रोत बाहर नहीं है। स्रोत भीतर में है। वह है प्राणशक्ति। यदि यह बात समझ में आ जाए कि शक्ति का स्रोत बाहर नहीं, भीतर है तो समस्या का समाधान हो सकता है। पर हमारी समझ में यह बात आई हुई है कि शक्ति का स्रोत बाहर में है। शक्ति का स्रोत पानी में, भोजन में, कपड़ों में, दवा में, और चीजों में है। हम शक्ति का स्रोत बाहर मान बैठे हैं।

जीवन विज्ञान के द्वारा एक मौलिक परिवर्तन यह होता है कि हमारी दिशा बदल जाती है। जो शक्ति का स्रोत है, उसे स्रोत मानने लग जाते हैं और जो उस शक्ति का सहायक है उसे सहायक मानने लग जाते हैं। यही तो है हमारी सम्यग् दृष्टि, अन्तर्दृष्टि। यह अन्तर्दृष्टि जाग जाती है तो हम बाहर को भी देखते हैं और भीतर को भी देखते हैं। एक वह दृष्टि है जो केवल बाहर को देखती है और एक वह दृष्टि है जो बाहर को भी देखती है और भीतर को भी देखती है, दोनों को देखती है और दोनों के आधार पर निर्णय करती है। केवल ऊपर देखें, काम नहीं बनेगा। केवल पीछे देखें, तो काम नहीं बनेगा। दाएं-बाएं देखें तो भी काम नहीं बनेगा। चारों ओर देख लें, पर जब तक नीचे-मूल की ओर नहीं देखेंगे तब तक काम नहीं हो सकेगा।

तोता पिंजड़े में बंद था। स्थान-स्थान पर गुलाब के फूल दिखाई दे रहे थे। तोता चोंच मारता, टकरा जाता। फूल नहीं मिलता। सुगंध आ रही है। सुगंध के लालच से वह खोजता है कि फूल कहां है। ऊपर चोंच मारी, फूल

नहीं मिला। दायीं, बायीं, पीछे की ओर घूम कर चोंच मारी, फूल नहीं मिला। कोरी सुगंध आ रही है। सुगंध का लोभ, फूल का लोभ, पर फूल दिखाई नहीं दे रहा है। चारों ओर प्रतिबिम्ब ही प्रतिबिम्ब। चारों ओर फूल खिल रहे हैं। फूल ही फूल दिखाई दे रहे हैं। पर मिला नहीं, हैरान हो गया चोंच मारते-मारते। थक कर सोचा, विश्राम कर लूं। विश्राम की मुद्रा में बैठा, प्रयत्न छोड़ा। थोड़ा नीचे झांका, तो नीचे फूल रखा हुआ था। मूल तक पहुंच गया। फूल उपलब्ध हो गया। पता लग गया कि ये सारे कांच में होने वाले प्रतिबिम्ब हैं, मूल नीचे बैठा है।

हमारी दृष्टि ऊपर की ओर जाती है, पीछे भी जाती है, पर जो मूल है, वहां नहीं पहुंच पाती। जब तक दृष्टि बाहर रहती है, केवल बाह्य में ही हमारी आस्था और विश्वास जमा रहता है, तब तक हमारे सामने प्रतिबिम्ब ज्यादा आते हैं, मूल का स्पर्श नहीं होता। जब दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है फिर उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है। जब प्रकाश फैलता है, सचाई हमारे सामने आ जाती है। अन्तर्दृष्टि को भी समर्थन दें। समर्थन के बिना अन्तर्दृष्टि का भी विकास नहीं होता। उसके लिए जरूरी है प्रयोग, पराक्रम। आज धर्म की, सत्य की खोज की जो सबसे बड़ी समस्या है वह है प्रयोगहीन धर्म। जो धर्म सिद्धान्तात्मक कम और प्रयोगात्मक ज्यादा था, वह धर्म आज केवल विचारात्मक और सिद्धांतात्मक रह गया। प्रयोगात्मकता छूट गई। इसीलिए धर्म के क्षेत्र में वाचिक और शाब्दिक चर्चा ज्यादा मिलती है, प्रयोग की बात कम मिलती है। अन्तर्दृष्टि के जागरण का परिणाम होगा प्रयोग की शक्ति का विकास, प्रयोगात्मक क्षमता का विकास। यह न मानें कि ध्यान किया और सचाई उपलब्ध हो गई। बहुत बड़ी भ्रांति होगी यदि ऐसा मान लिया तो। सत्य की यात्रा बहुत लम्बी है। लम्बा रास्ता पार करना होगा। आज चले और आज कुछ भी नहीं मिला, यह भी नहीं मानना है। यह भी मानना बड़ी भ्रांति है। जो जितना चला उसे उतना जरूर मिलेगा। आपके मन में संदेह हो कि ध्यान का तो इतना-सा संबंध, छोटा-सा संबंध, जीवन की यात्रा बहुत लम्बी, रास्ता बहुत लम्बा, कैसे पहुंच पाएंगे? यह मानना भी भ्रान्ति होगी। प्रकाश कोई बड़ा होता है?

यात्री चला। रात का समय। हाथ में टार्च। मन में विकल्प उठा कि मुझे पांच मील जाना है ओर यह टार्च का प्रकाश तो दो तीन फुट पर पड़ता है। पांच मील जाना और इतना छोटा-सा प्रकाश! कैसे जा पाऊंगा अंधेरे में? वापस आ गया घर पर और सो गया। घर वालों ने पूछा, वापस कैसे आए?

उसने कहा 'हमें कैसे यात्रा करता? तुम लोग भी कैसे हो जो मुझे अंधेरे में ढकेल देते हो!' अरे भाई, तुम्हारे पास तो बैटरी थी, प्रकाश हो जाता।' उसने कहा 'बैटरी का प्रकाश पड़ता है दो-तीन फुट पर और मुझे यात्रा करनी है पांच मील की। कैसे पहुंच पाता?'

छोटा-सा प्रकाश भी पूरे मार्ग को प्रकाशित कर सकता है। छोटा-सा प्रकाश जब हमारे पास होता है तो रास्ता चाहे पांच मील का हो, चाहे पचास मील का, प्रकाश अपना काम करेगा। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अन्तर्दृष्टि का प्रकाश जब व्यक्ति को मिल जाता है तो उसका पूरा रास्ता प्रकाशित हो जाता है। वह प्रकाशित रास्ता है प्रयोग। हम प्रयोग करना सीखें। वर्तमान की समस्या को समाधान दें अपने प्रयोगों के द्वारा। बहुत छोटे-छोटे प्रयोग। आयंबिल का प्रयोग चलता है। ध्यान करने वाले व्यक्ति आयंबिल का प्रयोग करते हैं, केवल थोड़ा-सा चावल खाते हैं, थोड़ा-सा पानी पीते हैं और कुछ नहीं करते। दूसरे दिन आकर कहते हैं कि इतना अच्छा ध्यान होता है कि पूरा भोजन करने पर भी नहीं होता। पता कैसे चला, किसी ने बताया नहीं। किसी ने रटाया नहीं कि तुम्हें ऐसा कहना है। अपना अनुभव हो गया। खाने के बाद ध्यान कैसा होता है, पूरा खाने पर ध्यान कैसा होता है और कम खाने पर ध्यान कैसा होता है, ये सारे प्रयोग बन गए। ठूस कर खा लो, पानी व हवा के लिए भी जगह न रहे, आकंठ मग्न हो जाओ, फिर ध्यान में उतरो कि कितना अच्छा ध्यान होता है? यह एक प्रयोग है। इसमें ध्यान कैसे होगा? ज्यादा खाकर ध्यान की संभावना ही हमने समाप्त कर दी। ध्यान कैसे उतरेगा? ध्यान उतरेगा खाली में, ध्यान उतरेगा शून्य में। हमने तो शून्य को भर दिया। अवकाश ही नहीं रखा कि ध्यान उतर सके। थोड़ा खाकर देखो, ऊनोदरी करके देखो कि ध्यान कैसा होता है। यह एक प्रयोग है। आयंबिल करके देखो कि ध्यान कैसा होता है। यह तीसरा प्रयोग है। बहुत स्थूल बात लगती है किन्तु प्रत्येक स्थूल बात के पीछे एक सूक्ष्म रहस्य छिपा होता है। स्थूल बात को तो बहुत जल्दी पकड़ लेते हैं पर सूक्ष्म की ओर नहीं जाते। उपवास, आयंबिल और अल्प भोजन के द्वारा अपने भीतर के रसायन बदलते हैं, यह बात हम नहीं सोचते। तपस्या के द्वारा शारीरिक-रासायनिक परिवर्तन होता है, जैविक-रासायनिक परिवर्तन होता है। आयंबिल के अनेक लाभ बतलाए गए हैं। पुराने ग्रंथों में बहुत वर्णन किया गया है आयंबिल के गुणों का। मुझे स्वयं लगता था कि यह हमारी एक भारतीय परम्परा है, किसी चीज पर बल देते हैं तो ज्यादा दे देते हैं। किसी को महत्त्व देते हैं तो बहुत ज्यादा

महत्त्व दे देते हैं। हठयोग के ग्रन्थों में लिखा मिलेगा, मुद्रा का प्रयोग करो। मुद्रा 'जरामृत्युविनाशनम्' हबुदापे को नष्ट कर देगी और मौत नहीं आएगी। अब लिखने वाले तो सारे मर गये। जिन्होंने ये ग्रन्थ लिखे, वे बूढ़े भी हुए हैं और मरे भी हैं। जैन आगम कहते हैं 'सर्वदुःखवि-मोक्षघण्टं करेमि काउस्सगं' हकायोत्सर्ग करो, सब दुःखों से छुटकारा मिल जाएगा। लगता है कि ये सब अतिशयोक्तियां की गईं। बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है किन्तु हम मुड़कर देखते हैं तो ऐसा लगता है कि ये अतिशयोक्तियां नहीं, ये आन्तरिक अनुभवों के निरूपण हैं। जिन लोगों ने प्रयोग किए, गहराई में गए, वहां जो देखा, उन्होंने कहा हजर (बुढ़ापे) का विनाश हो जाएगा। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि अवस्था के साथ बूढ़ा नहीं होगा। इसका अर्थ होगा, बुढ़ापा सताएगा नहीं, बुढ़ापा कष्ट नहीं देगा, बुढ़ापा दुःखद नहीं बनेगा। यह दुःख देने वाला बुढ़ापा समाप्त हो जाएगा। मृत्यु नष्ट हो जाएगी, इसका अर्थ यह नहीं कि मौत नहीं आएगी। मौत आएगी किन्तु सताएगी नहीं। मौत का भय नहीं होगा, कम्पन नहीं होगा, घबराहट नहीं होगी। मौत एक राक्षसी की मुद्रा में उपस्थित नहीं होगी। बहुत सहज, इच्छा-मृत्यु बन जाएगी। कायोत्सर्ग के द्वारा सब दुःखों से छुटकारा मिलता है। इसका अर्थ है दुःखों से छुटकारा पाने का पहला कोई उपाय है तो वह है हकायोत्सर्ग। जिस व्यक्ति ने कायोत्सर्ग की साधना की, उस व्यक्ति ने सभी दुःखों की जड़ को हिला दिया। जैसे ही कायोत्सर्ग होता है, आदमी शिथिल होता है, अपनी अकड़-पकड़ को छोड़ता है, सारे दुःखों की नींव हिलने लग जाती है, भूचाल आ जाता है, भूकंप आ जाता है। सब दुःख छूटने लग जाते हैं।

आयंबिल के बारे में भी बहुत सारी सचाइयां स्पष्ट हो चुकी हैं। एक अनाज खाने वाले व्यक्ति के शरीर में रसायन का परिवर्तन शुरू हो जाता है। कोई भी व्यक्ति महीनों तक केवल एक अनाज का प्रयोग करे, रसायन बदल जाएंगे। उसकी दूसरी दृष्टि जाग जाएगी। प्राकृतिक चिकित्सक कहते हैं, भोजन में एक से ज्यादा अनाज मत लो। उन्होंने सचाई को समझा है। एक से ज्यादा अनाज लेने का मतलब है पित्ताशय पर भार डालना और स्वास्थ्य के प्रति अन्याय करना, किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में तो यह बात कही गई कि अनाज के साथ और कुछ भी नहीं, केवल अनाज। एक नया परिवर्तन होगा, शारीरिक दृष्टि से भी, मानसिक दृष्टि से भी और कुछ शक्तियों के जागरण की दृष्टि से भी। इसलिए हजारों-हजारों तपस्वियों ने आयंबिल के लम्बे प्रयोग किए और वह आयंबिल का प्रयोग शक्ति-जागरण में सहायक बना।

साधना के क्षेत्र में आज भी सैकड़ों-सैकड़ों, उपाय और प्रयोग हमारे सामने बचे हैं। प्रश्न है पराक्रम का। रास्ता भी हमारे सामने है। बदलने की प्रक्रिया और प्रयोग हमारे सामने स्पष्ट हैं, किन्तु प्रश्न है चलने का। अगर चलने वाला नहीं है तो उसके लिए सारे प्रयोग व्यर्थ। कोई चलने वाला है, प्रयोग करता है तो उसके लिए रास्ते की कोई कमी नहीं है। कुछेक साधकों ने कहा कि जब तक ध्यान का प्रयोग नहीं किया, तब तक यह कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि चित्त की इस स्थिति का निर्माण हो सकता है। अब पांच दिन हुए हैं, प्रयोग कर रहे हैं, हमें पता चला कि चित्त की इस अवस्था का निर्माण भी हो सकता है। यह कैसे पता चला? प्रयोग से नहीं चला, कोरी पद्धति से नहीं चला। साथ में पराक्रम जुड़ा, पुरुषार्थ जुड़ा, तब यह पता चला। कोरी पद्धति हो, कोरा प्रयोग हो और कोई पुरुषार्थ न जुड़े तो पता नहीं चल सकता। इसलिए जीवन-विज्ञान के क्षेत्र में ये तीन उपलब्धि होंगी।

१. अपनी शक्तियों से परिचय।

२. अपनी शक्तियों के परिचय से उपलब्ध होने वाले उनके विकास के मार्ग।

३. अनुशीलन और प्रयोग।

अपनी शक्ति को जानें, प्रयोग की शक्ति को जानें और विकास के मार्ग को जानें। हमारे सामने स्पष्ट होती हैं, प्रयोग चलते हैं तो आस्था का निर्माण अपने आप होता है। मैं बहुत बड़ी बात नहीं कहता, बहुत छोटी-सी बात कहता हूँ, सहज-सरल बात। कोई व्यक्ति एक वर्ष तक हर समस्या के साथ श्वास को जोड़े और उसका प्रयोग करे। एक वर्ष के बाद वह अनुभव करेगा कि समस्या का समाधान बाहर से पचीस-तीस प्रतिशत हो सकता है, शेष समाधान हमारी प्राणशक्ति से या भीतर से होती है। हमारी भीतर की दृष्टि जागे, अन्तर्दृष्टि जागे, वह हमारे जीवन के कण-कण में फैले और उसके प्रकाश से हमारे जीवन की सारी यात्रा आलोकमय बन जाए।

जीवन विज्ञान और नई पीढ़ी का निर्माण

जो है उसी में संतोष है या और कुछ होना है? यदि संतोष तो फिर कुछ करने की जरूरत नहीं है। अगर कुछ बनना है तो कुछ करना भी है। प्रयत्न के बिना, पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना परिवर्तन नहीं होता। एक परिवर्तन सहज होता है, जो संकल्प की, इच्छा की या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता, अपने आप होता है। उसके लिए न हम जिम्मेवार हैं और न कोई परिस्थिति जिम्मेवार है। पूरी जिम्मेवारी कालचक्र की होती है। समय के साथ सहजभाव से यह परिवर्तन और परिणामन होता रहता है। पदार्थ बदलता रहता है। हर प्राणी बदलता रहता है। पदार्थ-जगत् का कोई पदार्थ, प्राणी-जगत् का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो उस परिवर्तन से नहीं बदलता हो। निरन्तर बदलता है। एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता। प्रतिक्षण, प्रतिपल, यह बदलाव होता रहता है।

दूसरा परिवर्तन हमारी संकल्पना के साथ होता है। हम संकल्पशक्ति का प्रयोग करते हैं, अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं, बदलना चाहते हैं और बदल जाते हैं। शायद आज तक के पूरे साधना के इतिहास में, मानव जाति के पूरे विकास-क्रम में ऐसा नहीं हुआ होगा कि प्राणी ने बदलने की कामना की हो, बदलना चाहा हो और न बदला हो। सचमुच जो बदलना चाहता है, शत-प्रतिशत बदलना चाहता है, वह जरूर बदल जाता है। हमारी चाह में कमी होती है, हमारी आस्था में, निष्ठा में दुर्बलता होती है तब हम नहीं बदलते। जो लोग बदलने का संकल्प करते हैं और फिर भी बदलते नहीं हैं तो कहीं न कहीं कोई भूल है। हमारी भावना बदलने के बिंदु पर पहुंच जाए और न बदले, ऐसा कभी संभव नहीं। भावना जब उस बिन्दु तक नहीं पहुंचती जहां कि बदलाव होता है, तब बदलाव असंभव है। पानी बर्फ बन सकता है, किन्तु ठीक तापमान तक पहुंचना चाहिए। ठीक तापमान के बिन्दु तक नहीं पहुंचता तो पानी पानी रहेगा, पानी बर्फ नहीं बनेगा। पानी भाप बन सकता है यदि तापमान ठीक मिल जाए। प्रश्न है तापमान का, कितने तापमान तक

हमारी भावना पहुंचती है, किस बिन्दु तक पहुंचती है। यदि अदम्य भावना, प्रबल कामना मन में हो तो सचमुच बदलाव आता है। प्रत्येक धार्मिक, धर्म के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो बदलने की बात पहले सोचता है। आत्मा से परमात्मा बनना है। वर्तमान में आत्मा है उसे परमात्मा बनाना है। बदले बिना परमात्मा बनेगी नहीं। आत्मा परमात्मा बनेगी तो बदल कर ही बनेगी। आत्मा जिस रूप में है उस रूप में परमात्मा की कामना नहीं हो सकती। आत्मा के विचित्र रूप हैं। सारी बुराइयां, सारे आवेग, सारे आवेश इसी आत्मा में हो रहे हैं। यह आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। परमात्मा वही आत्मा बन सकती है जो बदलना शुरू कर दे। जिस क्षण में बदलना शुरू कर दे वहां से परमात्मा बनने की हमारी यात्रा शुरू हो जाती है। एक दिन एक क्षण में कोई परमात्मा नहीं बन जाता। कोई चमत्कार नहीं, कोई जादू नहीं। लम्बी अवधि तक एक परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है। जो आज शुरू होती है, बढ़ते-बढ़ते एक क्षण ऐसा आता है हजारों वर्षों के बाद कि आत्मा परमात्मा बन जाता है। बिलकुल बदल जाता है। आत्मा बदला, सर्वथा बदला और वह परमात्मा बन गया। प्रत्येक धार्मिक अपने सामने यह लक्ष्य रखता है, यह ध्येय बनाता है कि परमात्मा बनना है। धार्मिक होने का मतलब है बदलने का संकल्प स्वीकार करना। बदलने का संकल्प उसने अपने सामने रख लिया और जब संकल्प हो गया तो निश्चित परिवर्तन हो गया।

आज के वैज्ञानिक बदलने की बात में बहुत लगे हुए हैं। सारी की सारी जो 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' है, वह बदलने की बात में लगी हुई है। जीन को बदला जाए। जीन बदलेगा तो सारी पीढ़ी बदल जाएगी। मनुष्य का निर्माण होगा तो नई पीढ़ी का निर्माण होगा और वह निर्माण हम चाहेंगे वैसा होगा। आदमी जैसा बीज बोता है वैसी खेती होती है। वैज्ञानिकों की कल्पना है कि ऐसा समय अपने वाला है जब हम आदमी को जैसा चाहें वैसा पैदा कर सकेंगे। साहित्यकार को पैदा करना है तो साहित्यकार को पैदा कर सकेंगे। कलाकार और लेखक को पैदा करना है तो कलाकार और लेखक को पैदा कर सकेंगे। बाजार में लोग जाएंगे कि ऐसा लड़का या लड़की चाहिए, वैसी ही जीन मिल जाएंगी। उसे बाजार में खरीदा जा सकेगा। मनुष्य ने इतना ज्ञान विकसित किया है कि वह जीन को बदलने की स्थिति में पहुंच गया है।

रासायनिक परिवर्तन के द्वारा जीन को बदलने की बात हो रही है। ध्यान में कोई रासायनिक प्रक्रियाएं नहीं हैं। हमारे पास न प्रोटीन हैं, न एसिड्स हैं और न दूसरे रासायनिक तत्व हैं। न आर.एन.ए., न डी.एन.ए.,

कोई भी नहीं है। फिर परिवर्तन की क्या बात करें? यह यथार्थता होनी चाहिए कि जो आदमी जिस प्रकार का संस्कार लेकर आया है वैसा ही रहेगा, वैसा बनेगा। जैसा जिसका संस्कार है, जैसा जिसका भाग्य है, जैसा कर्म है, वैसा रहेगा।

परिवर्तन की बात को जिन लोगों ने अस्वीकार किया, उन्होंने सारी व्यवस्था को नियति की संज्ञा दे दी। हम नियत हैं। जो जैसा है वैसा है, जो है, वह है। कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। परिवर्तन का सारा सूत्र नियति के हाथ में है। किन्तु पुरुषार्थवादी दर्शन ने इस नियति के दर्शन को स्वीकार नहीं किया। उसका सूत्र यह रहा कि हम बदल सकते हैं, कर्म को बदल सकते हैं, भाग्य को बदल सकते हैं, और बहुत प्रयत्न किया जाए तो शरीर को भी बदला जा सकता है। यदि शरीर-प्रेक्षा के द्वारा प्रत्येक कोशिका को हम अपनी भावना से प्रभावित कर सकें तो अपने शरीर को भी बदला जा सकता है, ज्ञान और दृष्टि को भी बदला जा सकता है, आने वाले प्रवाहकभाग्य को भी बदला जा सकता है। यह सब हमारे हाथ में है।

बदलने के तीन महत्वपूर्ण सूत्र हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने आपको बदल सकता है, परिवर्तन ला सकता है। एक है भीतरी प्रकाश, दूसरा है समता की साधना और तीसरा है सहिष्णुता का प्रयोग।

मनुष्य बहुत अच्छे ढंग से अपने आपको बदल सकता है। बदलने के लिए सबसे पहले उसे प्रकाश चाहिए। वह प्रकाश है अन्तर्दृष्टि, भीतरी प्रकाश। भीतरी प्रकाश की एक भी किरण फूट पड़ती है तो हमारी बदलने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जब तक अंधेरा है, अज्ञान है, हमारी आस्था बने कि मैं अपने आपको बदल सकता हूँ। यह संदेह समाप्त हो जाए कि होगा या नहीं होगा, ऐसा कर पाऊंगा या नहीं कर पाऊंगा? जब तक यह संदेह रहेगा, तब तक कुछ नहीं होगा।

कुछ लोग बतलाते हैं कि शिविर में आने से पहले डर लगता था। मैंने पूछा शिविर में कौन-सा डर? कौन-सी यातना दी जाती है जो डर लगे? वे बोले डर यह था कि भोजन कर सकेंगे या नहीं? इतने अनुशासन में रह सकेंगे या नहीं? बैठे-बैठे बोर हो जाएंगे तो क्या करेंगे? कितनी प्रकार की कल्पनाएं मन में होती हैं। संदेह पैदा होता है। जब तक संदेह और अज्ञान रहता है तब तक भीतरी प्रकाश काम नहीं देता, परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू नहीं होती। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे सबसे पहले एक छलांग लगानी पड़ती है। जो छलांग लगाना नहीं जानता वह विकास के क्रम को

तेजी से आगे नहीं बढ़ा पाता। चींटी की चाल चलने वाला विकास के शिखर पर कैसे पहुंच सकता है? इसके लिए तो बहुत छलांगे लगानी पड़ती हैं। खतरे भी मोल लेने पड़ते हैं। खतरों से, कठिनाइयों से घबराने वाला कोई भी व्यक्ति परिवर्तन नहीं कर सकता, कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। वह जिस स्थिति में है उस स्थिति में ही संतोष मानता रहता है। सबसे पहले खतरों को मोल लेने की भावना जागती है, वह संकल्प और आस्था जागती है, तो परिवर्तन शुरू होता है। पहली शर्त है प्रकाश।

बिजली चली गई। अंधेरा हो गया। आदमी अंधेरे में मोमबत्ती खोजना लगा। इधर-उधर टटोला पर वह भी नहीं मिली। लड़का बोलाहूपिताजी, क्या कर रहे हैं?

पिता बोलाहूपेटा! मोमबत्ती खोज रहा हूँ।’

‘मोमबत्ती को देखना है तो पहले बिजली जला लें।’

‘बिजली होती तो मोमबत्ती देखने की जरूरत ही क्या पड़ती? बिजली चली गई इसीलिए तो मोमबत्ती को खोजना पड़ रहा है।’

जब बिजली चली जाती है तो मोमबत्ती को खोजना पड़ता है। वह मिलती भी है और नहीं भी मिलती। मूल बात है कि हमारी बिजली बनी रहे।

हमारी यह प्राण की बिजली, प्राण-विद्युत् जब सक्रिय होती है तब सब ठीक चलता है और जब बिजली मन्द होने लगती है तब पता चलता है कि जीवन जीना कितना कठिन काम है। जो जीवन जीना बहुत सरल लगता है १० वर्ष के बच्चे का, छलांग भरना, दो-तीन सीढ़ियां एक साथ चढ़ जाना और उतर जाना सरल लगता है। वही जब अस्सी वर्ष का होता है तब पता चलता है कि तीन-तीन सीढ़ियां कैसे एक साथ उतरा जा सकता है? कैसे कूदा जा सकता है? अपने पैरों से भी नहीं चल सकता, तीसरा पैर और बनाना पड़ता है, क्योंकि प्राण की बिजली चुक जाती है। आस्था का निर्माण भी प्राण-विद्युत् के सहारे होता है। हर बात में हमारा यह ध्यान रहना चाहिए कि प्राण-शक्ति का अपव्यय तो नहीं हो रहा है। जैसे एक कंजूस आदमी पैसे को खर्च नहीं करता, पैसों को खर्च करने का प्रसंग आता है तो बड़ी मुसीबत आ जाती है, उसकी आंखें ही नहीं, हाथ भी रोने लग जाते हैं।

एक कंजूस आदमी हाथ में पैसा लेकर चला। साग-भाजी लाना था। आज तो पैसे से क्या हो? आज तो और कुछ चाहिए। पैसा लेकर चला। गर्मी का दिन और कंजूस पक्का कि पैसा गिर न जाए। पैसे को इतना कसके पकड़ा हाथ में कि पसीने से तरबतर हो गया। पसीना ही पसीना। मालिन के

सामने जाकर खड़ा हुआ, भाव पूछे, साग-भाजी खरीदी। मालिन को पैसे देने के लिए हाथ खोला तो पानी ही पानी। उसका दिल पसीज गया। बोलाहारे भाई पैसा! तू मेरे पास रहना चाहता है, मैं इस बात को जानता हूँ। तू जाना ही नहीं चाहता और जब जाने का मौका आया तब रोने लग गया। तेरे आंसू आ गए, पूरा हाथ गीला हो गया। तू चिंता मत कर, तुझे इतना कष्ट है तो तेरा कष्ट मैं नहीं देख सकता। मेरा हृदय करुणा से भर गया है। वापस चल।' मालिन से कहाह्ररहने दो आपकी सागभाजी। हम तो वापस जा रहे हैं। वापस आ गया।

प्राणशक्ति के खर्च के बारे में वैसी कृपणता हमें भी बरतनी चाहिए कि जहां कहीं प्राणशक्ति के व्यय का प्रसंग हो, वहां आंसू आ जाएं, रोने लग जाएं और वापस घर चले जाएं कि हमें नहीं खरीदना है, नहीं खर्चना है। बहुत फालतू गंवा देते हैं हम अपनी प्राणशक्ति को।

हम सचमुच यदि बदलना चाहते हैं तो सबसे पहले इस बात पर ध्यान दें कि हमारी प्राणशक्ति का अपव्यय न हो। उतना ही काम लें, जितना जरूरी है, व्यर्थ काम न लें। जिस दिन यह भावना जागी, व्यर्थ के सारे काम बंद हो जाएंगे। गुस्सा कैसे करेंगे? गुस्सा करने का मतलब है प्राणशक्ति को व्यर्थ में बहा देना, उसका नाला खोल देना, द्वार खोल देना। जितने आवेग के कार्य हैं, जितनी आवेश की प्रवृत्तियां हैं, जितनी तीव्र वासनाएं हैं, वे सारी प्राणशक्ति का अपव्यय करने वाली हैं। हमें बहुत सावधान रहना पड़ेगा, जागरूकता से रहना होगा कि प्राणशक्ति का अपव्यय न हो। प्राणशक्ति को बचाने की पूरी प्रक्रिया धर्म की प्रक्रिया है। उससे अपने आप चेतना का जागरण होता है। प्राणशक्ति, जो व्यर्थ में खर्च हो रही थी, वह शक्ति अब सुरक्षित बन जाती है और दूसरी दिशा में उसका उपयोग होने लग जाता है।

परिवर्तन का दूसरा सूत्र हैहसमता। समता को दूसरे अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूँ, यानी सर्दी और गर्मी को सहने की क्षमता; चांद और सूरज दोनों का बराबर उपयोग। यह प्रक्रिया हमारी श्वास की प्रक्रिया है। हठयोग का मतलब हठ करना, कष्ट देना नहीं है। यह बहुत गलत अर्थ है। इस अर्थ में हठयोग का प्रयोग नहीं हुआ है। यह एक सांकेतिक शब्द है। 'ह' और 'ठ' अर्थात् चन्द्र और सूर्य। हमारा बायां स्वर चन्द्र है। दायां स्वर सूर्य है। जो व्यक्ति समभाव का विकास करना चाहता है, जीवन में संतुलन लाना चाहता है, उसे चन्द्र और सूर्यहदोनों की साधना करनी होगी।

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

इसमें सिद्ध की स्तुति की गई है। परमात्मा चन्द्रमा की भांति निर्मल, सूर्य की भांति प्रकाश देने वाला और समुद्र की तरह गंभीर होता है। यह है परमात्मा का स्वभाव, परमात्मा की प्रकृति। चांद का उपयोग करना निर्मलता के लिए तथा सूर्य का उपयोग करना प्रकाश के लिए। इससे जीवन में समता आती है।

अगली कक्षा वाले शिविरार्थियों के लिए एक ध्यान का प्रयोग चलता है, वह है प्राण-केन्द्र के साक्षात्कार का। उसके प्रारंभ में नौ बार चन्द्रस्वर से श्वास लिया जाता है और सूर्यस्वर से निकाला जाता है। एक भाई ने पूछाहरेसा क्यों? सूर्यस्वर से शुरू क्यों न करें? केवल बाएं स्वर से ही क्यों शुरू करें? मैंने कहाहहमारे मन का संबंध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा का मन पर असर होता है। चन्द्रमा के द्वारा जैसे समुद्र में ज्वार भाटा आता है वैसी ही चन्द्रमा के द्वारा मन में भी ज्वार भाटा आता है। कुछ विशेष दिन होते हैं जब मनुष्य को चन्द्रमा बहुत प्रभावित करता है। चन्द्रमा का बहुत गहरा संबंध है मन से। मन को शान्त करने की, मन को विकल्प शून्य करने की, मन को अमन करने की साधना होती है तो वहां प्रारंभ में चन्द्रस्वर का प्रयोग शुरू किया जाता है। जहां प्राणशक्ति को तीव्र करने की प्रक्रिया है, वहां सूर्यस्वर के द्वारा प्रयोग किया जाएगा। चन्द्रमा और सूर्यहइन दोनों की साधना के बिना हमारे जीवन में संतुलन नहीं आता, समता नहीं आती। परिवर्तन की प्रक्रिया में बहुत बड़ा महत्त्व है चन्द्र और सूर्य का। चन्द्र और सूर्य निर्मलता और प्रकाश के प्रतीक हैं। जिस व्यक्ति ने अपने श्वास को नहीं समझा, श्वास को नहीं साधा, वह जीवन में परिवर्तन नहीं ला सकता। परिवर्तन करने की बहुत बड़ी प्रक्रिया हैहश्वास का अनुभव। एक निर्देश देना है, भावना का प्रयोग करना है, अमुक होना चाहता हूं, अमुक प्रकार का होना चाहता हूं, किसको निर्देश देना है? मस्तिष्क को देने से ही काम नहीं चलेगा। निर्देश देना होगा प्रत्येक सेल को। प्रत्येक कोशिका तक इस बात को पहुंचा देना होगा कि मैं अमुक होना चाहता हूं। जब तक आप अपनी बात अपने शरीर की कोशिकाओं तक नहीं पहुंचाएंगे तब तक परिवर्तन शुरू नहीं होगा। इतनी सूक्ष्म कोशिकाएं हैं, वे हमारी बात को कैसे सुनेंगी? वे हमारी बात को कैसे जानेंगी? सामने कोई आदमी हो तो सुन भी सकता है। वे कैसे सुनेंगी? उन्हें सुनाने की प्रक्रिया हैहभावना का प्रयोग, स्व-सम्मोहन का प्रयोग। अपने

आपको सूचना देना। अपने आप भावना के द्वारा सम्मोहित हो जाना। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के भीतर प्रयोग करना, फिर संकल्प शक्ति के द्वारा, भावना के प्रयोग द्वारा, बदलने की भावना को उन तक पहुंचा देना।

प्रत्येक कोशिका में ज्ञान-केन्द्र है। प्रत्येक कोशिका में प्रकाश-केन्द्र है। हर कोशिका का अपना एक कारखाना है विद्युत् का, शक्ति का। वे कोशिकाएं अपने ढंग से काम करती हैं, उनको बदलना है, उनको नया जन्म देना है, उनको नया रास्ता देना है तो आपको अपनी भावना को उन तक पहुंचाना होगा।

जब तक हमारी भावना उन तक नहीं पहुंचती, तब तक हम बदल नहीं सकते। उदाहरण लें एक आदमी अपनी क्रोध की आदत को बदलना चाहता है। संकल्प करता है मैं क्रोध नहीं करूंगा। बार बार संकल्प करता है, पर सफल नहीं होता। संकल्प तो करता है पर गुस्सा वैसे ही आ जाता है। ऐसा लगता है कि यह प्रयोग सार्थक नहीं है, यह उपाय कारगर नहीं है। मैं बदलना चाहता हूँ फिर भी नहीं बदलता हूँ। कितने ही लोग बुरे काम करते हैं और पछताते हैं। फिर सोचते हैं, फिर ऐसा नहीं करूंगा। पर ठीक समय आता है, काम हो जाता है। शराबी शराब को छोड़ने का संकल्प करता है, तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू को छोड़ने का संकल्प करता है, सोचता है, सेवन नहीं करूंगा, पर समय आता है तो भीतर से ऐसी प्रबल मांग जागती है कि उसका संकल्प धरा का धरा रह जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि अपने संकल्प को वहां तक पहुंचा नहीं पाते। बाहर ही बाहर में देखते हैं। हम बहुत अभ्यासी हैं बाहरी बात में। बाहर को देखते हैं और सारी कल्पना बाहर ही करते हैं।

एक संन्यासी था। दूसरा व्यक्ति था किसान। किसान का अंगोछा खो गया। सोचा, अंगोछा खो गया, पैसे कहां से लाऊं? उसने दाढ़ी बनाना बन्द कर दिया। दाढ़ी बनाने में जो पैसे लगते हैं, वे बच जाएंगे। अंगोछा खोया है उसकी क्षतिपूर्ति हो जाएगी। एक दिन जा रहा था बाजार में। संन्यासी मिल गया। उसकी दाढ़ी पैरों तक बढ़ गई थी। किसान ने सोचा हमेरा तो अंगोछा खोया है इसलिए छोटी-छोटी दाढ़ी बढ़ी है, इसकी इतनी बड़ी दाढ़ी बढ़ी है, लगता है इसका दुशाला खो गया है।

हमारा निर्णय बाहर की घटनाओं के आधार पर होता है। जैसी घटना आंखों के सामने, विचार के सामने आती है हम वैसा सोचने लग जाते हैं। यह तो प्रक्रिया है, इसका संबंध बाहरी घटनाओं से नहीं होता। हम बाहरी

घटनाओं के आधार पर निर्णय लेंगे तो सफल नहीं हो पाएंगे। हमें सारा निर्णय भीतर से लेना है। हमारे ज्ञानतन्तु, कोशिकाएं बदल सकती हैं, किन्तु उतना निश्चित अध्यवसाय, उतनी गहरी भावना और उतनी तन्मयता, उतना श्वास का प्रयोग कि कोशिका में जो प्राणशक्ति काम कर रही है वहां तक अपनी भावना को पहुंचा दें और उसे प्रेरित कर दें। यह सारा संभव प्रयोग है। कोई भी व्यक्ति एक स्थान को चुने, किसी भी स्थान को कि इस स्थान को मुझे सक्रिय करना है, वह कर सकता है। प्राकृतिक चिकित्सक बतलाते हैं कि यदि कब्ज है तो बड़ी आंत के ज्ञानतंतुओं को निर्देश देना सीखो। उनसे बातचीत करना सीखो। आदेश नहीं देना है। वे आदेश नहीं मानेंगे। दुनिया में आदेश को मानना कोई जानता ही नहीं है। किन्तु मृदुता के साथ, सद्भावना के साथ, प्रियता के साथ उसको निर्देश दो। मित्रवत् व्यवहार करो। उन्हें तैयार करो, आपकी बात मानने लग जाएंगे, अपना काम करने भी लग जाएंगे। जिस जिस अवयव के ज्ञानतंतु और कर्मतंतु अपना काम करना बंद कर देते हैंहयदि गहरा शरीर-प्रेक्षा का अनुभव हो और प्रत्येक सेल तक पहुंचाने की साधना हो तो वह अपनी भावना को उन तक पहुंचा सकता है और अपना काम उनसे करा भी सकता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया का दूसरा सूत्र हैहभावना का प्रयोग, संकल्प शक्ति का प्रयोग, अप्रभावित रहने का प्रयोग। यह संतुलन का प्रयोग होता है तो जीवन में समता घटित होती है और आदमी सौ कदम आगे बढ़ जाता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया का तीसरा सूत्र हैहसहिष्णुता, सहन करना। जो सहन करना नहीं जानता, वह बदल नहीं सकता। पहले ही घबराता है कि मैं यह काम करता हूं, लोग क्या कहेंगे? पड़ोसी क्या कहेंगे? साथी क्या कहेंगे? वहीं गति समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति बदलना चाहते हैं वे इस बात को सर्वथा समाप्त कर दें कि कौन क्या कहेगा।

आचार्य तुलसी बहुत बार कहते थेहयदि हम यह देखते रहते कि लोग क्या कहेंगे तो कुछ भी नहीं कर पाते। जहां थे, वहीं रह जाते। सारा जो विकास हुआ है, इस आधार पर हुआ है कि लोग क्या कहेंगे, इस बात का मन में डर नहीं है, केवल एक चिन्तन है कि क्या होना चाहिए। जो होना चाहिए वह किया गया, इसलिए आज हमारी यह स्थिति बन गई। डरे ही रहते तो यह स्थिति नहीं बनती।

हमारी सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। सहिष्णुता का अर्थ हैहसर्दी को सहना, गर्मी को सहना। सर्दी मौसम की भी आती है और सर्दी भावना

की भी आती है। अनुकूल कष्ट का नाम है सर्दी और प्रतिकूल कष्ट का नाम है गर्मी। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर से सर्दी को और गर्मी को नहीं सहा, वह कच्चा रह गया। जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक जगत् में अनुकूलता को नहीं सहा, प्रतिकूलता को नहीं सहा, वह साधना के क्षेत्र में कच्चा रह गया। जब चाहो तब उसे दुःखी बना सकते हो। कच्चे आदमी को दुःख दिया जा सकता है। जो पक जाता है उसे दुःख देना बड़ा कठिन होता है। जब तक मिट्टी का घड़ा कच्चा है, पक नहीं जाता तब तक काम का नहीं होता। न पानी रखा जा सकता है, न और कुछ ही रखा जा सकता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कच्चे पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। भरोसा पैदा होता है पक जाने पर। मनुष्य भी जब तक कच्चा होता है तब तक उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। साधना की आंच में अनुकूलता और प्रतिकूलता को झेलते-झेलते जो पक जाता है वह विश्वास करने योग्य बनता है, अन्यथा ७० वर्ष का आदमी भी अविश्वसनीय ही रहता है। बड़ी उम्र हो जाने से कोई विश्वासपात्र नहीं बन जाता। एक छोटी उम्र का आदमी विश्वासपात्र बन जाता है, यदि वह पक जाता है। यदि नहीं पकता है तो जीवन में बड़े खतरे रहते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया हैहृपक जाना। पकने के लिए दो आंचों से गुजरना पड़ता है। एक अनुकूलता की आंच और दूसरी प्रतिकूलता की आंच। प्रतिकूलता की आंच को सहना कठिन काम है तो अनुकूलता की आंच को सहना कठिनतम काम है। जितना खतरा अनुकूलता का होता है, उतना खतरा प्रतिकूलता से नहीं होता।

ध्यान के द्वारा इन दोनों स्थितियों का पार पाया जा सकता है, अनुशासन स्थापित किया जा सकता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने चन्द्र स्वर का प्रयोग करता है। वह पकता है। श्वास के साथ बहुत सारे रासायनिक तत्त्व होते हैं। वे वाहन का काम कर सकते हैं, माध्यम बन सकते हैं। किसी विचार को पहुंचाना है, किसी स्थिति को सहना है तो श्वास-संयम के बिना सहज-सरल नहीं होगा। यदि हमने श्वास को साध लिया, दीर्घ और समताल श्वास का प्रयोग करना सीख लिया तो अनुकूल स्थिति और प्रतिकूल स्थिति को भी झेल सकते हैं। सामने प्रतिकूल स्थिति आती है और मस्तिष्क में गर्मी छा जाती है। उत्तेजना आती है, तब पीनियल और पिच्यूटरी में भयंकर गर्मी पैदा हो जाती है। ये सारे स्थान बहुत सक्रिय हो जाते हैं। यदि उस समय श्वास का अच्छा अभ्यास होता है, तो लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कोई भी प्रतिकूलता मन में आ रही है, मन में पारा गर्म हो रहा है, उत्तेजना भभक

रही है, तत्काल समताल श्वास का प्रयोग शुरू करें, ऐसा लगेगा कि आग और पानी दो हैं और बीच में कोई बर्तन आ गया है। आग जल रही है, पानी डालो, आग बुझेगी, पानी फालतू चला जाएगा। आग जल रही है, बर्तन रखकर पानी डालो, पानी गर्म हो जाएगा, काम बन जाएगा। पानी काम का भी बन सकता है आंच को सहकर और आग में गिरकर पानी फालतू भी हो सकता है। श्वास की क्रिया एक ऐसा बर्तन है। अगर इसका उपयोग किया जाए तो आंच भी लगेगी और जो कुछ आएगा, उसका भी उपयोग हो जाएगा।

आग भी उपयोगी है और पानी भी उपयोगी है। अगर हम आग और पानी के बीच में समताल श्वास का बर्तन रखना सीख जाएं तो पानी भी खराब नहीं होगा, काम का बन जाएगा। आग भी नहीं बुझेगी और हम उसे बहुत काम में ले पाएंगे।

सहिष्णुता का प्रयोग, सहन करने का प्रयोग, श्वास के बिना संभव नहीं होता। भगवान महावीर के कष्टों की चर्चा हमने सुनी है। बाहुबलि की बारह मास तक लगातार खड़े रहने की बात हम जानते हैं। बाल मुनि गजसुकुमाल के सिर अंगारे रख दिए गए और वे समभाव में खड़े रहे, यह हमने सुना है। न जाने कितने साधकों, संन्यासियों और धार्मिकों को हम जानते हैं जिन्होंने बहुत कुछ सहा है, पर एक प्रश्न होता है कि सिर पर अंगारा क्या कोई सह सकता है? पैरों में आग क्या कोई सह सकता है? लाठी की मार पड़े, क्या कोई सह सकता है? वह विरोध भी न जताये, क्या ऐसा हो सकता है? कभी संभव नहीं तो सर्वथा असंभव भी नहीं। यह संभव तब बनता है जब हमारी चेतना श्वास के साथ जुड़ जाए, चेतना और श्वास एक जैसा बन जाए। महावीर सागर की भांति गंभीर थे, समुद्र की इतनी गहराई में चले गए कि लाठी मारने वाला चमड़ी पर मारता है पर उसे जानने वाला सागर में गोते लगाने चला गया। स्थान खाली पड़ा है। लाठी चली, पर घर तो खाली है। कष्ट किसको होगा। जो कष्ट को अनुभव करने वाला था, वह तो बहुत गहराई में चला गया। गहराई की बात श्वास की प्रक्रिया के द्वारा आती है।

आत्मा से परमात्मा बनने का संकल्प, आत्मा से परमात्मा बनने की हमारी यात्रा, बीच में होने वाले ये हमारे पड़ाव और मंजिल तक पहुंच जाना, यह स्थिति हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। कोई अस्पष्टता नहीं है। केवल इतना करना है कि परिवर्तन कि प्रक्रिया शुरू कर दें, बाहर की चिंता न करें, एक

बार भीतर से बदलना शुरू कर दें और चेतना को एक संकल्प दे दें। मुझे यह बनना है। उसी में लग जाएं, तो मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि कोई संकल्प खाली नहीं जायेगा, आदमी निश्चित बदल जाएगा।

परिवर्तन के दो महत्त्वपूर्ण हेतु और हैं। धर्मचिन्ता और जातिस्मृति (पूर्व जन्म का ज्ञान)।

एक राजा प्रतिदिन अपनी अश्वशाला और बैलशाला को देखने जाता था। बैलशाला में एक बैल उसके मन को भा गया। वह रोज जाता, टकटकी लगाकर उसे देखता। तृप्त होकर आ जाता। वह बैल बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर था। एक बार राजा कहीं बाहर चला गया। कुछ वर्षों पश्चात् आया, बैल देखने गया। एक बैल पर नजर पड़ी। राजा ने तत्काल बैल-शाला के संरक्षक को बुलाकर पूछा कि 'क्या यह वही बैल है जिसको कंधे पुष्ट थे, जो बहुत शक्तिशाली था, रथ को लेकर चलते समय लगता था कि बैल नहीं चल रहा है, पवन चल रहा है। क्या यह वही बैल है?'

संरक्षक ने कहा कि 'महाराज! यह वही बैल है?'

राजा ने कहा कि 'यह इतना क्षीण कैसे हो गया?'

वह बोला कि 'महाराज! बुढ़ापे के कारण इसकी यह स्थिति हुई है।'

राजा ने सोचा, बुढ़ा होने पर ऐसा है तो क्या मुझे भी बुढ़ा होकर इस स्थिति से गुजरना पड़ेगा? इस चिन्तन ने परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब राजा राजा नहीं रहा, वह मोक्षमार्ग का पथिक बन गया।

जब यह चेतना जाग उठती है तब मनुष्य के जीवन का यात्रा पथ बदल जाता है, दिशा बदल जाती है, आकर्षण बदल जाता है और तब वह घटित होता है जिससे आदमी समाधि के लिए प्रस्थान कर देता है, समाधि में चला जाता है।

चित्त की समाधि या परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है पूर्वजन्म की स्मृति। आदमी का मन सदा उलझा रहता है, मन की असमाधि बनी की बनी रहती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि पूर्वजन्म का ज्ञान उतर आता है और असमाधि समाप्त हो जाती है।

मगध सम्राट महाराज श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार मुनि बना। पहले ही दिन उलझ गया। अप्रत्याशित कष्टों से घबड़ा कर वह श्रामण्य से छुटकारा पाने का विचार कर बैठा। तत्काल उसे पूर्वजन्म की स्मृति करवाई गई। पूर्वजन्म की सारी घटनाएं उसकी आंखों के सामने चलचित्र की भांति उभरने लगीं। मुनि मेघकुमार की चेतना आहत हुई। उसका सामर्थ्य जाग उठा। वह

संभल गया। असमाधि मिटी और वह पुनः श्रामण्य में स्थिर हो गया।

यदि आपके मन में सचमुच बदलने की भावना है, जो है वही नहीं रहना चाहते, जैसे हैं वैसे ही नहीं रहना चाहते, और आगे बढ़ना चाहते हैं तो इस परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रयोग करें, कोई संकल्प को अपनी कोशिकाओं तक पहुंचा दें। निश्चय रखें, संदेह न करें। एक किसान की भांति मन में अटूट विश्वास रखें कि खेती होगी। बीज बोते ही जिस किसान का हाथ कांप उठता है, वह खेत कभी पूरा नहीं पड़ेगा। हमें वैसा किसान बनना है जो अवृष्टि की संभावना को ध्यान में रखते हुए भी अपनी आशा को भंग नहीं करता, अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता, एक बार पानी गिरता है, तत्काल खेत में बीज बोना शुरू कर देता है। हमारी वैसी आस्था जागे, हमारा वैसा संकल्प जागे। हम ध्यान के द्वारा आस्था को इतना बल दें कि हमारी परिवर्तन की यात्रा शुरू हो जाए।

जीवन विज्ञान और सामाजिक विज्ञान

जीवन की दो पद्धतियां हैं वैयक्तिक पद्धति और सामाजिक जीवन पद्धति। दोनों साथ-साथ चलती हैं। कोई भी व्यक्ति सोलह आना सामाजिक नहीं होता और कोई भी व्यक्ति सोलह आना वैयक्तिक नहीं होता। दोनों परस्पर मिली हुई हैं। प्रधानता की अपेक्षा से वैयक्तिक प्रणाली और सामाजिक प्रणालीहृये दो विभाग होते हैं। अधिकांश लोग सामाजिक जीवन जीते हैं। साधना की पद्धति भी सामाजिक बनी हुई है। कुछ लोग वैयक्तिक साधना करते हैं। कहीं दूर-दराज पहाड़ों की गुफाओं में, कंदराओं में चले जाते हैं। वहां जो कुछ मिलता है उससे जीवन चला लेते हैं और वहीं एकांत में रहते हैं। वैसे लोग बहुत कम होते हैं। सत्य की प्रबल जिज्ञासा सब लोगों में नहीं जागती। वैज्ञानिक लोग सत्य की खोज में लगे हुए हैं तो अध्यात्म के साधक भी सत्य की खोज में लगे हुए थे और हैं।

वैज्ञानिक आदमी भी पूरा सामाजिक जीवन नहीं जीता। उसकी दुनिया समाज से हटकर कुछ अलग-सी हो जाती है। वैयक्तिक जीवन भी पूरा नहीं होता। उसे अपना भी भान नहीं रहता। जब सत्य की खोज में गहरी निष्ठा जागती है तब शरीर और शरीर को पोषण देने वाला भोजन भी गौण हो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि खाया या नहीं खाया। बात अटपटी-सी लगती है, विश्वास करना भी कठिन होता है। क्या यह संभव है कि भोजन करे और पता न चले? कभी संभव नहीं। किन्तु जब चेतना किसी दूसरी दिशा में प्रस्थित होती है और उसकी गहराई में जाती है तो यह बात भी संभव हो जाती है कि भोजन का भी पता न चले और नींद का भी पता न चले। खाना खाया या नहीं खाया, नींद ली या नहीं ली, स्मृति नहीं रहती।

सत्य का शोधक अध्यात्म के क्षेत्र में यात्रा करता है, वह इतना कम खाता है कि दूसरे लोग सोचते हैं, यह तो शरीर को सता रहा है, किंतु उसकी खाने के प्रति जो एक आकांक्षा होती है, वह कम हो जाती है। वहां मात्र जीवन-यात्रा का निर्वाह बचता है। सब लोग जीवन-यात्रा को चलाने के लिए

नहीं खाते, दूसरे उद्देश्य से खाते हैं, आकांक्षा से खाते हैं। सत्यशोधक की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। आकांक्षा से खाने वाले को एक बड़ी मात्रा की जरूरत होती है। आकांक्षा को छोड़कर खाने वाले को बहुत थोड़ी मात्रा की जरूरत होती है। पोषण थोड़ी मात्रा से भी हो सकता है। हम जितना खाते हैं, पोषण के लिए नहीं खाते, किन्तु आदतवश खाते हैं। एक आदत बना लेते हैं और आदत को पूरा करने के लिए खाते हैं।

वैयक्तिक साधना के लोग संकरी पगडंडी पर चलते हैं, फिर वह चाहे वैज्ञानिक हो, चाहे अध्यात्म का साधक हो या ध्यान की आराधना करने वाला हो। ऐसा मार्ग कुछ लोग चुनते हैं। उतनी तितिक्षा, उतनी तपस्या हर व्यक्ति में नहीं होती कि उस मार्ग को चुने। सामान्य आदमी सामाजिक जीवन में जीएगा, यह बात जानी हुई है। जीवन में जो कुछ है वह करेगा।

ध्यान-साधना की एक पद्धति है वैयक्तिक और दूसरी है सामुदायिक। समुदाय के बीच में ही ध्यान करना, समुदाय के बीच में ही जीना और समुदाय के बीच में ही रहना, बहुमत इसका होगा। वैयक्तिक साधना का अल्पमत हो सकता है, पर बहुमत कभी नहीं हो सकता। समाज कभी न तो वैयक्तिक साधक बनेगा और न वैज्ञानिक बनेगा। समाज अपने ढंग से जीएगा। आगे जाकर प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति वैयक्तिक पद्धति हो सकती है, पर मुख्यतः वह सामाजिक पद्धति है, क्योंकि वह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली है। लोग ध्यान करते हैं। स्वयं को संतोष मिला, तृप्ति मिली, प्रीति मिली, सुख मिला। बस, काम हो गया। यदि इतना ही मानकर चलते हैं तो काम बनेगा नहीं। उनकी दृष्टि इस बात पर अटकनी चाहिए कि ध्यान के द्वारा जीवन बदले, जीवन की धारा बदले, आचार बदले, व्यवहार बदले, आस्था बदले।

सबसे पहले आस्था बदले। ध्यान न करने वाले व्यक्ति की और ध्यान करने वाले व्यक्ति की आस्था में बहुत बड़ा अन्तर होता है। ध्यान चाहे सामुदायिक हो, आखिर सत्य की खोज तो है ही। इसमें कोई संदेह नहीं। सत्य के खोज की जिज्ञासा न जागे तो ध्यान की रुचि ही पैदा नहीं होगी। अज्ञात को ज्ञात करने की भावना जागती है, अपने भीतर क्या है, यह जानने की भावना जागती है, अपने भाग्य को जानने की भावना जागती है और अपने भाग्य को बदलने की जिज्ञासा भी पैदा होती है, तब मनुष्य ध्यान के मार्ग में प्रवृत्त होता है।

ध्यान करने वाले लोगों के सामने एक प्रश्नचिह्न है। उस प्रश्नचिह्न पर

उन्हें गंभीरता से ध्यान को केन्द्रित करना है। यदि ध्यान के द्वारा कोई शक्ति नहीं जागी, ध्यान के द्वारा जीवन की कोई रेखा नहीं बदली, पुरानी रेखा नहीं मिटी और नई रेखा नहीं खींची गई तो फिर लोग नहीं समझेंगे ध्यान का मूल्य। ध्यान करने वाला भी पूरा मूल्य नहीं समझ पाएगा। प्रत्येक प्रवृत्ति की कसौटी समाज में होती है, मूल्यांकन समाज में होता है। वैयक्तिक मूल्य नहीं होता, वैयक्तिक कसौटी नहीं होती।

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति इस अर्थ में है कि केवल अंधेरी कोठरी में डेला फेंकने की बात उसमें नहीं है। पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणामहदोनों का स्थान इसमें है। इस आदत का कारण क्या है? इसके बदलने का हेतु क्या है? इसका परिणाम क्या है? और इसकी प्रक्रिया क्या है? यह सब बहुत स्पष्ट है गणित की भांति। शरीर-विज्ञान को जानने वाला, मानस-विज्ञान को जानने वाला इस सचाई को बहुत जल्दी पकड़ लेता है, उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केन्द्र हैं चेतना के, उनका फंक्शन क्या है? उनका परिणाम क्या होता है? यह बात तो शरीरविज्ञानी जानता है किन्तु ध्यान के द्वारा फंक्शन कैसे बदलता है और उसका परिणाम क्या होता है, यह शरीर-विज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों बातें जुड़ जाएं तो सामाजिक जीवन पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुड़े। दोनों का योग हो जाए। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपान्तरण हो सकता है। हमारा मुख्य लक्ष्य है चेतना का रूपान्तरण। शरीर का रूपान्तरण साध्य नहीं है। इसका चिकित्सात्मक पहलू भी है किन्तु वह मुख्य लक्ष्य नहीं है। मुख्य लक्ष्य है चेतना का रूपान्तरण, चेतना की चिकित्सा।

हमारी चेतना जब बदलती है तब व्यवहार बदल जाता है। जैन धर्म ने अहिंसा पर, अपरिग्रह पर बहुत बल दिया। दूसरे धर्म भी अहिंसा और मैत्री पर बल देते हैं। इतना बल देने पर भी अहिंसा का विकास जितना होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। एक प्रश्न है, क्यों नहीं हुआ? हजारों वर्षों की लम्बी परम्परा में इतना प्रयत्न करने पर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? कारण एक ही मालूम पड़ता है कि जीवन में अहिंसा उतरती है चेतना के बदल जाने पर, जीवन में अपरिग्रह उतरता है चेतना का रूपान्तरण हो जाने पर। चेतना तो मूल की स्थिति में है, जितना ममत्व चित्त में चाहिए पूरा ममत्व चित्त में विद्यमान है, जितनी आसक्ति चाहिए उतनी आसक्ति चेतना में विद्यमान है,

जितनी संघर्षप्रियता, समस्या को संघर्ष के द्वारा सुलझाने की मनोवृत्ति चाहिए वह चेतना में विद्यमान है और हम स्वप्न लेते हैं कि अपरिग्रह आए, अहिंसा जाए। यह कैसे संभव होगा ?

अहिंसा चेतना के रूपान्तरण का परिणाम है। असंग्रह चेतना के बदल जाने का एक व्यक्त रूप है। जब तक यह परिवर्तन नहीं होता, अहिंसा और अपरिग्रह के विकास की संभावना नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति ध्यान करने वाला है, जिसकी चेतना बदली है, उसकी आस्था भी बदल जाएगी। आस्था का पहला आधार यह होगा कि मुझमें असीम शक्तियां हैं। यह विश्वास जागे। यह उसका सबसे पहला परिणाम होगा। यह कसौटी होगी कि ध्यान का अभ्यास करने पर भी जिसकी दुर्बलता नहीं मिटी तो समझ लेना चाहिए कि इसने ध्यान को नहीं पकड़ा, ध्यान ने इसको नहीं पकड़ा। दोनों में संबंध जुड़ा नहीं। अपनी शक्तियों में विश्वास होना, यह पहली बात है।

दूसरी बात है, अपनी शक्तियों को जागृत करने में विश्वास होना। यह विश्वास होना कि मैं अपनी शक्तियों को जगा सकता हूँ। इसके लिए एक सरल प्रक्रिया अध्यात्म के आचार्यों ने प्रस्तुत की। कोई काम करना हो तो सबसे पहले दस मिनट के लिए इस पर ध्यान को केन्द्रित करो कि मुझमें असीम शक्तियां हैं। फिर दूसरे दस मिनट में अनुभव करो कि मेरी शक्तियां जाग उठी हैं, सक्रिय हो उठी हैं। फिर तीसरे दस मिनट में इस बात पर ध्यान केन्द्रित करो कि मैं अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता हूँ और मैं अपनी समस्या को सुलझा सकता हूँ। तीन चरण में प्रयोग होगा। समय आधा घंटे का लगेगा, किन्तु यदि छह महीने लगते हैं तो शायद दो महीने में ही काम हो जाएगा। मन की दुर्बलता जहां आती है तो शक्य कार्य भी अशक्य बन जाता है। मन की प्रबलता आती है, असंभव काम भी संभव लगने लग जाता है। साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिकों को जो कहीं हार नहीं मानते, कहीं पराजित नहीं होते। अनेक पीढ़ियां खप गईं, पर वे आगे से आगे विकास करते जा रहे हैं, खोजते जा रहे हैं। जिस समस्या को लिया, छोड़ा नहीं उसको। तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ा, जब तक कि कोई समाधान नहीं मिला। कितने लोग अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं, पर समस्या से मुंह नहीं मोड़ते।

एक संन्यासी से कोई भूल हो गई। पकड़ा गया। आया। बाहर एक आदमी खड़ा था। संन्यासी ने देखाहवह बड़ा दुःखी हो रहा था। दीनता टपक

रही थी चेहरे पर। आदमी ने देखा, यह साधु है, सत्य का खोजी है, संन्यासी है, भूल हो सकती है, हो गई होगी। इतना क्यों घबराया? उसने पूछाहमहाराज! क्या भूल हो गई? संन्यासी ने कहाहमूल कोई नहीं हुई, मैंने सत्य बात कह दी और हमारा राजा सत्य बात सुनने को तैयार नहीं है, यही भूल हो गई, इसीलिए पकड़ा गया। अब क्या होगा? फांसी की सजा होगी, प्राणान्त होगा। उस आदमी ने पूछाहक्या आप घबड़ा गए? 'हां सचमुच डर गया।' जो आदमी खड़ा था, वह कभी अपने जमाने का बड़ा डाकू रहा था। बदल गया था, दूसरे धंधे में आ गया था। वह बोलाह'महाराज! बड़े साधु बने! मुझे देखो, यह देखो, शरीर में कितने घाव भरे पड़े हैं, कितने घावों के चिह्न हैं, कितनी मार सही, कितनी बार कारावास गया, लाठियां सही, चोटें सही, सब कुछ सहा, फिर भी डकैती छोड़ने की बात मन में नहीं सोची। आप अच्छे साधु हुए, थोड़ी-सी कठिनाई सामने आई और सोच रहे हैं कि बात को बदल दूं और मुकर जाऊं।'

बहुत कठिन काम होता है सहन करना, धैर्य रखना। जब तक चेतना नहीं बदलती तब तक स्थिति नहीं बनती। ध्यान का बड़ा परिणाम है आस्था का बदलना, शक्ति पर भरोसा होना और शक्ति का प्रयोग करना।

सामाजिक जीवन जीते हैं, वहां संघर्ष अनिवार्य है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सामाजिक जीवन जीएं और संघर्ष न हो। असंभव कल्पना है। निश्चित है, दो का होना और टकराना। दो होने का मतलब ही है टकराना। दो बर्तन भी टकरा जाते हैं, कभी-कभी अपने दो हाथ भी टकरा जाते हैं। आदमी कपड़ा धोता है, हाथ टकरा जाते हैं, नाखून चमड़ी छील देते हैं, लहुलुहान हो जाते हैं। एक हाथ का नाखून दूसरे हाथ की चमड़ी को छील देता है, बेचारे नाखून का कोई दोष नहीं। दो का मतलब ही है टकराना। कभी संभव नहीं कि दो हों और न टकरायें सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है।

साधना करने वाले व्यक्ति की चेतना बदलती है, उसकी आस्था बदलती है, इसका आधार यह बनता है कि सद्भावना और सहमति के द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। संघर्ष की बात मन से टल जाती है। वह सीधा यह नहीं सोचता कि ऐसा हो गया तो अब संघर्ष मोल लें। संघर्ष करना है और संघर्ष के सिवाय कोई उपाय नहीं। जरा-सी कुछ गड़बड़ हुई, गालियां बकें। थोड़ी-सी कोई स्थिति बनी, मारपीट करें या मार डालने की बात सोचें। एक यह रास्ता है। दूसरा रास्ता है समस्या को सुलझाने का, सद्भावना और सहमति का विकास करना। ध्यान करने वाला व्यक्ति सहमति और

सद्भावना की चेतना को जगा लेता है। इससे उसका पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। हमें पता है, अनेक लोगों ने ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को बदला और उनका पारिवारिक जीवन सुखी बन गया। अनेक बहिनों ने कहा, एक दिन उनका घर नारकीय आवास था और आज वह घर स्वर्ग बन गया। यह सब हुआ चेतना के परिवर्तन के द्वारा। ऐसा घटित होता है जब सौहार्द, सद्भावना और सहमति की बात जागती है।

ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति समाज को या किसी व्यक्ति को अपने गुलाम की भांति नहीं देखता, नौकर को नौकर और कर्मचारी की भांति नहीं देखता। उसकी दृष्टि बदल जाती है। अधिकांश कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। आदमी को इस बात में बहुत रस है। जितना रस रसगुल्ला खाने में नहीं है, उतना रस दूसरों के अहं को चोट पहुंचाने में है। जो दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचा देता है, वह यह मान लेता है कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया। अधिकांश लड़ाइयों के पीछे खोजा जाए तो पता लगेगा कि कोई बड़ी बात की लड़ाई नहीं है। कोई उद्देश्यपूर्ण लड़ाई नहीं है। कोई मुद्दा भी नहीं है। बस, एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट की और वह फुफकारने लग गया। औरों की बात छोड़ दें, सांप भी तब काटता है, जब उसके अहं को चोट लगती है, कोई उस पर पैर रख देता है। अन्यथा सीधा चला जाता है। शरीर पर से भी निकल जाता है, नहीं काटता। अनेक घटनाएं ऐसी होती हैं। किन्तु जब चोट करे कोई, तब फिर वश नहीं, फिर तो काटेगा। उसके अहं को चोट पहुंची, मैं विषधर और मुझे भी कोई छुए, मुझे चोट पहुंचाए, यह कभी उसे मान्य नहीं, कभी उसे इष्ट नहीं।

अहंकार को चोट पहुंचाना एक मनोवृत्ति है तो दूसरी मनोवृत्ति हैहसमता और मैत्री का अनुभव करना। छोटे से छोटे व्यक्ति को, अपने नौकर को, अपने कर्मचारी को, एक मनुष्य की दृष्टि से देखना चैतन्य की दृष्टि से अनुभव करना, यह है समता की दृष्टि। इससे सारी समस्या सुलझ जाती है। आदमी में अवमानना और अवज्ञा का भाव बहुत प्रबल होता है। जाने-अनजाने वह व्यक्तियों की अवमानना कर देता है। इतिहास को देखें तो पता चलेगा, राजा ने सत्ता के मद में एक छोटे से कर्मचारी की अवमानना कर दी, एक छोटे से नागरिक की अवमानना कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि सारी सत्ता को उलटना पड़ा और सम्राट को पदच्युत होना पड़ा।

चाणक्य कौन-सा बड़ा था? कोई बड़ा नहीं था। यदि राजा के द्वारा उसकी अवमानना नहीं होती तो शायद इतना बड़ा युद्ध भी नहीं होता, और नंदवंश का विच्छेद भी नहीं होता, किंतु अवमानना हुई और उस अकेले व्यक्ति ने, ब्राह्मण ने संकल्प किया, जब तक नंदवंश का विच्छेद नहीं कर दूंगा, तब तक चोटी नहीं बंधेगी, चोटी खुली रहेगी।

हम सामाजिक घटनाओं से, समस्याओं से चिंतित होते हैं, सोचते हैं कि समाज में इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं। पर इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जो सोचते हैं, उनके मन से भी दूसरों को अवमानित करने की बात निकलती नहीं है। जहां भी वश चलता है, अपना आधिपत्य होता है, अपनी प्रभुता होती है, वहां इस प्रकार का एक गुलाबी नशा छा जाता है आदमी पर, उसे इस बात का भान ही नहीं होता कि मेरा व्यवहार दूसरों के प्रति कैसा हो रहा है?

ध्यान-साधक को सोचना चाहिए कि उसका क्रोध कितना कम हुआ, व्यवहार कितना बदला, दूसरों को मूल्य देने की भावना कितनी जागी, दूसरों को अपने समान समझने और वैसा व्यवहार करने की वृत्ति कितनी विकसित हुई। ये परिणाम सामने आते हैं तो समझना चाहिए कि ध्यान के द्वारा रूपान्तरण हुआ है, कुछ लाभ हुआ है। यह परिणाम न आए तो समझना चाहिए कि ध्यान किया, वह पूरा हुआ नहीं। और करना है, और करना चाहिए।

मुझे इस बात का हर्ष है कि जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास किया, उनके बदले हुए जीवन के चित्र भी हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हमारा कोरे भविष्य में विश्वास नहीं है। हमें वर्तमान में विश्वास, वर्तमान के परिणाम में विश्वास, प्रवृत्ति और परिणामहदोनों की संयुक्तता में विश्वास है। ध्यान की धारणा ऐसी नहीं है कि अभ्यास करते जाएं, करते जाएं और एक बिंदु कोई आएगा कि बदल जाएगा। ध्यान की धारणा यह है कि आज शुरू करें तो लगना चाहिए कि भीतर में परिवर्तन शुरू हुआ है। नहीं आएगा एक साथ। भीतर की घटना कभी एक साथ बाहर नहीं आती। बीमारी भीतर में होती है, बाहर आने में महीनों लग जाते हैं। कोई भी घटना, अच्छी या बुरी भीतर में घटित होती है, बाहर आने में उसे काफी समय लगता है। दूसरों को पता चलने में समय लग जाए, कोई चिंता की बात नहीं। परिवार वालों को न लगे कि बदल गया। पड़ोसियों व मित्रों को भी न लगे कि बदल गया, पर स्वयं को लगे कि भीतर में बदलना शुरू हो गया है। यहां एक चरण पूरा हो जाता है।

यदि यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी तो फिर बाहर से भी पता लगने लग जाएगा कि इस व्यक्ति ने साधना की है और यह बदल गया है। कुछ लोग तो साधना को इतना सशक्त बना लेते हैं कि एक बार में ही उनके बदलने का पता लग जाता है। इसी आधार पर यह प्रेरणा जागी है कि आदमी बदलता है और जल्दी उसका पता लग जाता है।

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। दर्शन के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है वह सिद्धांत। उस सिद्धांत की व्याख्या, पूरे दो हजार वर्ष के काल में, कुछेक आचार्यों ने की है। वह सिद्धान्त है साधना-शुद्धि का। साध्य शुद्ध होना चाहिए, साध्य अभिप्रेत होना चाहिए, इस पर तो बहुत चर्चा हो गई, पर जहां साधन का प्रश्न था वहां यह मान लिया गया कि अच्छे साधन से साध्य सिद्ध हो तो अच्छी बात है किन्तु यदि अच्छे साधन से न हो तो गलत साधन से भी उसे सिद्ध किया जा सकता है। आचार्य भिक्षु ने कहा कि शुद्ध साध्य के लिए साधन का शुद्ध होना अनिवार्य शर्त है। इसे मैं ध्यान का प्रतिफलन मानता हूँ। जिस व्यक्ति में साधना फलवती होती है, जिसकी चेतना से दोष नष्ट हो जाते हैं और आन्तरिक प्रकाश उद्दीप्त होता है, उस व्यक्ति के मन में सबसे पहला सूत्र यह होता है कि मुझे सुख को, शान्ति को पाना है। किन्तु पाऊंगा समुचित साधन के द्वारा। गलत साधन के द्वारा न सुख पाना है और न शान्ति। यदि यह संकल्प हो तो आज ध्यान के साथ चलने वाले नशे की प्रवृत्तियां, शून्यता लाने वाली औषधियां और भी गलत प्रयोगों से, गलत साधनों से फलित की जाने वाली शान्ति और सुख सब समाप्त हो जाते हैं।

शांति को उपलब्ध होना है, सुख को उपलब्ध होना है किन्तु किसी गलत साधन का प्रयोग नहीं करना है, निश्चित विश्वास आत्मा में जाग जाएगा। चाहे कितना भी प्रलोभन सामने आए, चाहे कितनी ही भड़काने वाली बातें सामने आएँ कि बस दो मिनट में यह प्रयोग किया और शक्तिपात हो जाएगा, कुंडलिनी जाग जाएगी, साधक इसके प्रति आस्थावान् न बनें। यह बड़ी निष्पत्ति है ध्यान की। ध्यानी व्यक्ति को सामाजिक जीवन जीना है, समाज में रहना है, समाज की साथ व्यवहार करना है, उस स्थिति में उसका व्यवहार किस प्रकार का हो और ध्यान से क्या फलित हो, यह सारा दर्शन ध्यान करने वाले के सामने स्पष्ट होना चाहिए। उस स्पष्टता की दोहरे चार रेखाएं मैंने आपके सामने खींची हैं। इनका अनुशीलन और प्रयोग आवश्यक है।

शिक्षा का नया आयाम : जीवन विज्ञान

सब अनुभव करते हैं कि शिक्षा आज एक समस्या बनी हुई है। इसे सुलझाने के लिए काफी प्रयत्न हुए हैं। अनेक आयोगों के माध्यम से इस पर विचार किया गया है, पर कोई अपेक्षित हल सामने नहीं आ पाया है। यद्यपि असंतोष हर युग में होता है, पर आज के प्रबुद्ध मानस में असंतोष बहुत गहरा है। यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज की शिक्षा-प्रणाली में संतोष के कोई आधार-तत्त्व नहीं है। आज शिक्षा कोरी बौद्धिकता को बढ़ावा दे रही है। यह बौद्धिकता का विकास होगा तो असन्तोष उससे फलित होगा ही। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, अपितु स्वाभाविक परिणाम है।

बौद्धिकता शिक्षा का एक अंग है, पर वह पूरा नहीं है। उसके साथ-साथ व्यक्ति में समाज के प्रति अपने दायित्व का बोध, मानवीय मूल्यों का विकास तथा व्यक्तिगत चरित्र का विकास भी आवश्यक है। कोरी बौद्धिकता से आदमी ज्यादा खतरनाक भी बन सकता है। आजकल बहुत सारे पढ़े-लिखे लोग चोरी-डकैती में भी अपनी बौद्धिकता का उपयोग करते हैं, बल्कि अबौद्धिकों की अपेक्षा वे अपने धंधे को ज्यादा दक्षता से चला सकते हैं। आज यही सबसे बड़ी समस्या है। समाज तथा शासन-तंत्र में बौद्धिक व्यक्तियों की भरमार है, पर केवल बौद्धिकता से काम नहीं चल सकता। उसके साथ-साथ चरित्र का भी विकास होना चाहिए। दोनों मिलकर ही पूर्ण व्यक्तित्व की रचना करते हैं।

आज तक शिक्षा का आधार मस्तिष्क का विकास रहा है, पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रन्थि-तंत्र ही हमारे सारे व्यवहारों का निदेशक है। मैं मस्तिष्कीय ज्ञान की उपेक्षा नहीं करता, पर उसके साथ-साथ ग्रन्थितंत्र के विकास के प्रयोगों को भी जोड़ना होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे।

जीवन-विज्ञान में योग, कर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रहइन तीनों का प्रशिक्षण जुड़ा हुआ है। आज की शिक्षा में फिजियोलोजी, एनोटोमी और साइकोलोजी का विशेष महत्त्व है। ये छह विषय मिलकर सम्पूर्ण और

समन्वित जीवन का निर्माण करते हैं।

हम छात्रों को तोता-रटंत की शिक्षा नहीं देना चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि छात्रों में एकाग्रता, इच्छाशक्ति तथा संकल्प का विकास हो। इसके लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। क्या कारण है कि सत्तर करोड़ की आबादी वाले भारत को खेलों में स्वर्ण-पदक तो क्या रजत-पदक भी नहीं मिल पाते, और कोरिया जैसे छोटे-छोटे देश भी अनेक स्वर्ण-पदक झटक लेते हैं। स्पष्ट है, हमारे यहां एकाग्रता, संकल्प तथा इच्छा-शक्ति का अभाव है। जब तक इनका विकास नहीं हो जाता तब तक देश आगे नहीं बढ़ सकता।

शिक्षा में तीन बातों के विकास की आवश्यकता है—फिजिकल, मेंटल तथा इमोशनल। आज फिजिकल और मेंटल विकास की शिक्षा दी जाती है पर इमोशनल विकास की बात नहीं की जाती, जबकि तीनों में सबसे मूल्यवान यही है। इसीलिए तो मूल में ही भूल हो रही है। हमारा इसी भूल को सुधारने का प्रयत्न है।

हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि धर्म-ग्रन्थों के उदाहरण न लें। पर हम उन्हें पर्याप्त नहीं मानते। वे प्रेरक तो बन सकते हैं, पर बदलाव के वाहक नहीं बन सकते। उसके वाहक तो हमारे हारमोन हैं। जब तक हारमोन व सिक्रेसन को नहीं बदला जाएगा तब तक सारा विकास अधूरा व एकांगी रहेगा। हमारा ध्यान इस ओर क्यों नहीं जाता कि आन्तरिक बदलाव के बिना सारे प्रयत्नों का केवल क्षणिक प्रभाव ही हो सकता है।

धर्म-शास्त्रों में जो समाधान दिए हैं, वे एक परिस्थिति से जुड़े हुए हैं। वे समाधान ही एकमात्र समाधान नहीं हो सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि शास्त्रों के समाधान गलत हैं, पर समस्याएं यदि आज की हैं तो उनके समाधान भी इसी संदर्भ में खोजे जाने चाहिए। आज पदार्थ-विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान जिस तरीके से विकसित हो गये, उनसे भी समस्याओं के समाधान मिल सकते हैं। जहां तक धर्मशास्त्रों से समाधान मिले, लिए जाएं, पर धर्म-ग्रंथ के नाम पर आधुनिक उपलब्धियों से परहेज नहीं किया जाए, यह हमारा पक्ष है।

अज्ञान और मूर्च्छा दो भिन्न तत्त्व हैं। अज्ञान से केवल इतना ही होता है कि व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, पर मूर्च्छा से व्यक्ति का व्यवहार और चरित्र भी प्रभावित होता है। आज शिक्षा का सारा आयोजन मनुष्य के अज्ञान को मिटाने का, उसे आंकड़ों का ज्ञान करा देने मात्र का है पर मूर्च्छा को हटाने का कोई उपाय नहीं है। ऐसी शिक्षा से मनुष्य में अनुशासन नहीं आ सकता।

अतः यदि शिक्षा को सही दिशा में विकास करना है तो उसे द्विआयामी बनाना पड़ेगा, ये दोनों पथ परस्पर पूरक होंगे।

नैतिक शिक्षण को अलग विषय के रूप में थोपने का मैं समर्थन नहीं करता। यह पाठ्यक्रम का ही एक अंग होना चाहिए। प्रायोगिक प्रशिक्षण के लिए शिविर-पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। उसमें जितना निर्माण होता है उतना थियोरिटिकल शिक्षा से नहीं हो सकता।

प्रायोगिक प्रशिक्षण में ग्रन्थि-तंत्र के परिवर्तन के कुछ प्रयोग करवाए जाएं। पहले कुछ शिक्षकों को ट्रेण्ड किया जाए। फिर धीरे-धीरे यह क्रम आगे बढ़ाया जाए। मैं यह बात केवल काल्पनिक नहीं कर रहा हूँ। हमारे ध्यान-शिविरों में अनेक ऐसे लोग आए हैं, जिनमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। हरियाणा सरकार के एक डिप्टी सेक्रेटरी हमारे शिविर में सम्मिलित हुए। जब वे अपने ऑफिस में गए तो उनके सहयोगियों ने उनसे पूछा कि तुम कहां कायाकल्प कर आए हो? न केवल शारीरिक अपितु मानसिक दृष्टि से भी इन प्रयोगों के द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

नागौर जिले का नबूखां नाम का एक शिक्षक हमारे शिविर में आया। यहां प्रशिक्षण लेने के बाद उसमें इतना परिवर्तन आ गया कि सब लोग आश्चर्यचकित रह गए। पहले वह स्कूल में एक उद्वंद शिक्षक माना जाता था। गांव, परिवार के लोगों के साथ भी उसका व्यवहार आक्रामक था पर शिविर में आने के पश्चात् आमूलचूल परिवर्तन हो गया। यह कोई जादू नहीं, अपितु प्रयोगों का साक्षात् परिणाम है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से केवल छात्रों को नैतिक शिक्षण देने से काम नहीं चलेगा। इस अभियान को त्रिकोणात्मक बनाना पड़ेगा। छात्र, शिक्षक और अभिभावकहइन तीनों में काम करना पड़ेगा। चालीस-पचास शिक्षकों के छोटे-छोटे शिविर लगाए जाएं। पहले उनको जीवन विज्ञान में प्रशिक्षित किया जाए। फिर वे छात्रों में सुसंस्कार भर सकेंगे।

मैं यह नहीं कहता कि पुस्तक न हो, पर मेरा विश्वास प्रयोग पर है। बच्चों के कुछ साप्ताहिक ध्यान-शिविर लगाए जाएं। इसके निश्चित परिणाम आएंगे। यह काम उपदेश से नहीं होगा। इसके लिए हमें प्रयोग करने होंगे। रासायनिक परिवर्तन के प्रयोग कर हमने अनेक रासायनिक बदलाव परिलक्षित किए हैं।

मैं यह मानता हूँ कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने अनेक अच्छे-अच्छे व्यक्तित्व दिये हैं। साइकोलोजी, टेक्नोलोजी, इंजीनियरिंग आदि के क्षेत्र में

अनेक विशेषज्ञ सामने आए हैं। आज जितनी कुशलता प्रकट हुई है उतनी शताब्दियों में नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं शिक्षा को दोषपूर्ण नहीं मानता, पर इसमें एक कमी है। वह है जीवन विज्ञान की शिक्षा का अभाव। यदि उसे शिक्षा के साथ जोड़ा जाए तो शिक्षा प्रणाली सब दृष्टियों से पूरी हो जायेगी।

शिक्षा में व्याप्त असंतोष को मिटाने के लिए व्यक्तिगत धरातल पर चेतना को जगाने के लिए उपक्रम किये जाएं। आज शिक्षा वस्तु-निष्ठ बन रही है, उसे स्वनिष्ठ बनाया जाए। दूसरे शब्दों में, चरित्रनिष्ठ बनाया जाये। कोठारी आयोग ने इस संबंध में कुछ प्रयत्न किये थे कि शिक्षण के साथ नैतिक शिक्षा को जोड़ा जाए। पर वहां भी सम्प्रदायवाद ऊपर आ गया। आयोग के सचिव श्री नाईक ने स्पष्ट रूप से अपनी कठिनाई हमारे सामने प्रकट की थी। उस समय एक ऐसा भी प्रसंग आया था कि कुछ पाठों का निर्माण कराया जाये तथा उन्हें नैतिक शिक्षा के कोर्स के रूप में स्वीकार किया जाये, पर मैं नहीं समझताहकेवल पुस्तकीय ज्ञान छात्रों के नैतिक विकास में कोई सहयोग कर सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा में जीवन-विज्ञान को एक विद्या-शाखा के रूप में स्वीकार किया जाये। जिस तरह आज बायोलोजी, फिजिक्स आदि को स्कूलों एवं कॉलेजों में पढ़ाया जाता है, उसी तरह जीवन-विज्ञान की शिक्षा को भी स्वतंत्र शाखा के रूप में शामिल किया जाये। यदि जीवन-विज्ञान का साईन्स की तरह सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक स्तर पर चेतना के जागरण के लिए उपयोग किया जाये तो एक क्रांति घटित हो सकती है।

जिन देशों ने आंतरिक समस्याओं पर ध्यान दिया वहां कार्य-दक्षता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस दक्षता के पीछे कोरी पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं रही है, ध्यान का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है। जापान में झेन-संप्रदाय के नाम से ध्यान का एक संप्रदाय चलता है। वहां केवल छात्रों को ही नहीं, सैनिकों को भी ध्यान का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसीलिए हमारे यहां जो कार्य छह घण्टे में किया जाता है, वह वहां तीन घण्टे में हो जाता है। यह शिक्षा का प्रायोगिक रूप है। यह सिद्ध हो चुका है कि पीनियल, थायराइड, पिच्यूटरी आदि ग्रन्थियां मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करती हैं। दस-बारह वर्ष के बच्चों की पीनियल ग्रन्थि बहुत सक्रिय होती है। इसी से उनके जीवन में पवित्रता रहती है। ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं, उनकी यह ग्रन्थि निष्क्रिय होती जाती है। यदि प्रायोगिक स्तर पर उस ग्रन्थि को सक्रिय बनाया जा सके तो उन्हें बहुत पवित्र, अनुशासित रखा जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है

कि छात्रों को न केवल शरीर-शास्त्र का अध्ययन ही कराया जाये, अपितु उनके ऐसे साप्ताहिक शिविर लगाये जाएं, जिनमें उनकी ग्रंथियों को सक्रिय करने के लिए प्रायोगिक स्तर पर काम किया जा सके। इससे एक नई पीढ़ी का निर्माण होगा। मैं यह नहीं कहता कि बौद्धिकता का विकास न हो, पर साथ ही साथ उस पर नियंत्रण करने के लिए अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को जगाना पड़ेगा। उन पर ध्यान देकर ही अपराधी वृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है। छोटे बच्चे सहयोग करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी तक उनका बौद्धिक विकास नहीं हुआ है। जब बौद्धिक विकास हो जाता है, वे आपका सहयोग नहीं करते। इसीलिए तो केवल बौद्धिक विकास खतरनाक है।

आज हमारे सामने चुनाव का सवाल है। एक ओर बौद्धिक विकास करने वाली शिक्षा है, दूसरी ओर धर्म-शास्त्रों की शिक्षा है। मैं नहीं मानता कि केवल बौद्धिक शिक्षा या केवल धर्म-शास्त्रों की शिक्षा बड़ा परिवर्तन कर सकेगी, बल्कि मैं तो यह भी मानता हूँ कि वह धर्म भी हमारा बहुत अधिक मार्ग-दर्शन नहीं करेगा, जो विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसा जा सके। आज विज्ञान ने हमारे सामने जो बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है, उसकी छाया में धर्म-शास्त्रों की शिक्षाओं तथा पुस्तकीय शिक्षाओं का प्रायोगिक रूप में उपयोग किया जा सके तो हम नयी पीढ़ी का निर्माण कर सकेंगे, सर्वांगपूर्ण स्वस्थ व्यक्तियों का निर्माण कर सकेंगे।

